कुछ संक्षिप्त सनातन कथाएं

पञ्च कन्याएं, महर्षि गौतम एवं महर्षि विश्वामित्र

(पौराणिक कथाओं पर आधारित)

डॉ यतेंद्र शर्मा

ॐ
सत्य
सनातन धर्म

कुछ संक्षिप्त सनातन कथाएं

पञ्च कन्याएं, महर्षि गौतम एवं महर्षि विश्वामित्र

(पौराणिक कथाओं पर आधारित)

डॉ यतेंद्र शर्मा

प्रकाशक

श्री राम कथा संस्थान पर्थ

३५ मायना रिट्रीट, हिलरीज़, वेस्टर्न ऑस्ट्रेलिया – ६०२५

वेबसाइट: https://shriramkatha.org

ईमेल: srkperth@outlook.com

KUCH SANKSHIPT SANATAN KATHAEN – PANCH KANYAEN, MAHARSHI GAUTAM EVAM MAHARSHI VISWAMITRA
(HINDI)

ISBN: 978-1-7648041-5-8

Author / All rights Reserved

© Author: Dr. Yatendra Sharma

1st Edition: June 2024

E-Book

Published by: Shri Ram Katha Sansthan

35 Mayena Retreat, Hillarys
W.A. 6025, AUSTRALIA
Telephone: +61 8 94011543
Email: srkperth@outlook.com

अनुक्रमणिका

अस्वीकरण 7
प्रातः स्मरणीय पञ्च कन्याएं.. 8
प्रस्तावना.. 9
प्रथम पञ्चकन्या - अहिल्या.. 10
जन्म एवं विवाह 11
इंद्र का छलावा 15
द्वितीय पञ्चकन्या – तारा 21
समुद्र मंथन से अवतरण एवं विवाह 22
अजेय पति वानरराज बालि.. 24
असुर मायावी से द्वन्द एवं तारा का भ्रम 25
वानरराज बालि का वापस आना और सुग्रीव पर क्रुद्ध होना 29
वानरराज बालि का वध 30
पति बालि के साकेत धाम पर शोक और सुग्रीव से विवाह.............................. 41
सम्राट सुग्रीव को उचित परामर्श...44
तृतीय पञ्चकन्या – मंदोदरी..50
जन्म एवं विवाह 51
श्री स्वरुप पुत्री गर्भ धारण 61
चतुर्थ पञ्चकन्या – कुंती 82
जन्म, बाल्यावस्था और विवाह 83
दैवीय पुत्रों (पांडवों) की प्राप्ति 85
पञ्चम पञ्चकन्या – द्रौपदी 95
जन्म एवं विवाह 96
भगवान् कृष्ण की अत्यंत भक्ता 100
महर्षि गौतम 110
वंशावली.. 111
जन्म, शिक्षा, उपलब्धि एवं विवाह 117
जनकल्याण यज्ञ... 122
गृहस्थ जीवन 125
अहिल्या को श्राप.. 127

उपसंहार 128
गुरु, गुरु दीक्षा एवं गुरु महत्व 130
गुरु वंदना 131
गुरु दीक्षा 134
गुरु महत्व 142
ब्रह्मऋषि विश्वामित्र 151
पारिवारिक परिचय 152
कामधेनु गौ हरण प्रयास 153
दसराज्ञ युद्ध 156
महर्षि वशिष्ठ से एकल युद्ध 165
गहन तप के लिए प्रस्थान 167
अप्सरा मेनका प्रति आकर्षण 169
विश्वरथ को गायत्री मन्त्र ज्ञान और ब्रह्मऋषि उपाधि 175
गायत्री मन्त्र महात्म्य 178
माँ गायत्री आरती 185
लेखक: डॉ यतेंद्र शर्मा 188

अस्वीकरण

इस पुस्तक की सामग्री जनहित एवं सामान्य ज्ञान के लिए प्रदान की गई है। हमारा तद्भाव पाठक को कोई परामर्श देने का नहीं है। इस पुस्तक की सामग्री किसी भी तरह से विशिष्ट परामर्श का विकल्प नहीं है। आपको इस ज्ञान के आधार पर कोई भी निर्णय लेने से पहले प्रासंगिक निपुण या विशेषज्ञ का परामर्श प्राप्त कर लेना चाहिए।

इस पुस्तक के लेखक, प्रकाशक और उनका कोई प्रतिनिधि किसी भी विषय में इस पुस्तक से सम्बंधित कोई प्रत्याभूति नहीं लेते। इस पुस्तक का पठन-पाठन-श्रवण पाठक स्वयं के संज्ञान से दायित्व ले कर ही करें।

यद्यपि हमने इस पुस्तक में सटीक ज्ञान देने का पूर्ण प्रयास किया है लेकिन किसी भी प्रकार कोई त्रुटि अथवा अकृता रह गई हो तो उसके लिए लेखक एवं प्रकाशक क्षमा प्रार्थी हैं और इसके परिणाम स्वरूप किसी विधि, सामाजिक, धार्मिक, इत्यादि का दायित्व नहीं लेते।

प्रातः स्मरणीय पञ्च कन्याएं

(पौराणिक कथाओं पर आधारित)

माता अहिल्या, माता तारा, माता मंदोदरी, माता कुंती एवं माता द्रौपदी

प्रस्तावना

महर्षि वेद व्यास जी ने कहा है:

अहिल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकन्या स्वरानित्यम महापातका नाशका।।

इन पञ्च अक्षत कुमारियों - अहिल्या, तारा, मन्दोदरी, कुन्ती और द्रौपदी के लिये कहा जाता है कि यह प्रातः स्मरणीय हैं तथा इनके स्मरण मात्र से महापापों का भी नाश हो जाता है।

पञ्चकन्याओं के इस समूह में तीन - अहिल्या, तारा, मन्दोदरी का वाल्मीकि रामायण से सम्बन्ध है तथा द्रौपदी और कुन्ती महाभारत में वर्णित प्रमुख पात्र हैं।

महर्षि वाल्मीकि और महर्षि व्यास दोनों ही अपने युग के महर्षि, भगवद्भक्त एवं दिव्यदृष्टि धारक थे। उन्होंने सत्य को दिव्यदृष्टि से जान कर इन महाकाव्य की रचनाएं कीं थीं। इन महर्षियो ने इन पञ्च कन्यायों को प्रातः स्मरणीय एवं महापाप नाशक क्यों कहा, इस तथ्य का मूल्यांकन करने के लिये यह अति आवश्यक है कि इनके चरित्र की पवित्र भावनाओं तक पहुंचा जा सके।

लेखक ने यहां आर्यकुल की इन पञ्च महान नारियों का चरित्र विवरण कर उन्हें शास्त्रों में प्रथम पूजनीय होने के कारण को समझने और समझाने का प्रयास किया है।

प्रथम पञ्चकन्या - अहिल्या

जन्म एवं विवाह

पौराणिक कथाओं में अहिल्या जन्म एवं उनके विवाह की कथा कुछ इस प्रकार है। एक बार इंद्रदेव किसी कारणवस अप्सरा उर्वशी से कुपित हो गए। उन्हें लगा कि उर्वशी को अपनी सुंदरता पर इतना अभिमान हो गया है कि उन्हें किसी का भी मान नहीं रहा, यहां तक कि स्वयं इंद्रदेव का। कुपित इंद्रदेव ब्रह्मदेव के आवास ब्रह्मलोक में गए। उस समय ब्रह्मदेव सप्तमहर्षियों के साथ यज्ञ करने की तैयारी में थे और यज्ञ कुंड निर्मित किया जा रहा था। इंद्रदेव ने अपनी व्यथा ब्रह्मदेव को सुनाई तथा विनती की कि उर्वशी का अभिमान तोड़ना अत्यंत आवश्यक है। उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मदेव ने यग्न कुंड की मिट्टी से एक अत्यंत रूपवती बालिका की मूर्ती निर्मित की और उसमें प्राण डाल दिए। अपनी इस स्वयं की कृति में ब्रह्मदेव को पूर्णता दिखाई दी। अति सुन्दर दोष रहित बालिका। संसार में उर्वशी क्या, कोई भी अप्सरा कोई भी नारी ना इतनी रूपवान है, और संभवतः ना कभी होगी। ब्रह्मदेव ने इस कन्या का नाम रखा अहिल्या, अर्थात दोष रहित। अब सबसे बड़ा प्रश्न ब्रह्मदेव के मष्तिष्क में यह आया कि इतनी अपूर्व सुंदरी कन्या का लालन पालन बिना उसकी सुंदरता से प्रभावित हुए कौन कर सकता है? पूरी अपनी सृष्टि में उन्होंने दृष्टि डाली। केवल और केवल महर्षि गौतम ही उन्हें ऐसे दृष्टिगोचर हुए जिन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले रखा था तथा ब्रह्मदेव की कोई उत्पत्ति उन्हें प्रभावित नहीं कर सकती थी। ब्रह्मदेव महर्षि गौतम जी के पास उनके आश्रम में गए तथा उनसे प्रार्थना की कि इस कन्या का वह लालन पालन करें एवं इसके वयस्क होने पर उसे ब्रह्मदेव को लौटा दें। ब्रह्मदेव पिता का कर्तव्य करते हुए तब उसके लिए उचित वर ढूंढेंगे और उसका विवाह कर देंगे। महर्षि ने ब्रह्मदेव के निर्देश को स्वीकार किया। अहिल्या का लालन पालन उनके आश्रम में उनके शिष्यों की पत्नियां (महर्षि-पत्नियां) एवं पुत्रियों (महर्षि-पुत्रियां) के साथ होने लगा।

इसी तरह समय बीतता गया और देखते देखते ही अहिल्या वयस्कता को प्राप्त हुईं। अहिल्या का अधिकतर समय महर्षि गौतम की सेवा में ही बीतता था। अहिल्या की सेवा भावना से प्रभावित हो महर्षि गौतम जी ने उन्हें चिर-यौवन का वरदान दिया, अर्थात वह सदैव १६ साल की ही रहेंगी, ऐसा वरदान दिया।

अपने वचनानुसार महर्षि गौतम जी अहिल्या को वयस्कता प्राप्त होने के पश्चात ब्रह्मलोक ले गए ताकि अब ब्रह्मदेव उनके लिए उचित वर ढूंढ सकें।

जिस समय महर्षि गौतम जी ब्रह्मलोक अहिल्या को लेकर ब्रह्मलोक पहुंचे उस समय इन्द्रदेव भी किसी कार्यवश वहां ब्रह्मदेव के पास आये हुए थे। अहिल्या की सुंदरता देखते ही रह गए। जब महर्षि गौतम जी वापस अपने आश्रम में चले गए तब इंद्रदेव ब्रह्मदेव से मिले और अहिल्या का विवाह उनके साथ करने का प्रस्ताव रखा। ब्रह्मदेव ने इस पर विचार करने का आश्वासन इंद्र देव को दिया।

इसी समय महाराज जनक जी के राजपुरोहित महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने राजपुरोहिती से अवकाश प्राप्त कर संन्यास स्वीकार करने का निश्चय लिया। अपना निश्चय उन्होंने महाराज विदेह जनक को सुनाया। विदेह यह सुनकर अत्यंत चिंता में पड़ गए। उस समय दो ही तो महाज्ञानी महर्षि थे जो राजपुरोहिती का पद स्वीकार किये हुए थे। एक तो महर्षि वशिष्ठ जी और दुसरे महर्षि याज्ञवल्क्य जी। अन्य महाज्ञानी महर्षि तो इस सांसारिकता में पड़ना ही नहीं चाहते थे। महर्षि वशिष्ठ जी तो महाराज दशरथ के राजपुरोहित हैं, वह तो महाराज जनक की राजपुरोहिती स्वीकार करेंगे नहीं। फिर किस महाज्ञानी महर्षि को यह पद दिया जाय? राजपुरोहित का पद तो किसी महाज्ञानी को ही दिया जा सकता है जो महाराज जनक के साथ साथ पूरे जनक साम्राज्य का मार्ग दर्शन कर सके। इसी दुविधा में जब वह अपने दरबार में विचारलीन थे तो संयोग कहिये या भगवान् की लीला, ब्रह्मऋषि नारद जी का महाराज जनक जी के दरबार में आगमन हुआ।

ब्रह्मऋषि नारद जी ने उनसे चिंता का कारण पूछा। महाराज विदेह जी ने तब विस्तार से महर्षि याग्यवल्क्य जी के राजपुरोहिती से अवकाश लेने के निश्चय को ब्रह्मऋषि को बताया। ब्रह्मऋषि नारद जी विदेह जी को सांत्वना देकर बोले, “महाराज यह कार्य आप मुझ पर छोड़ दीजिये। मैं आपके लिए एक महाज्ञानी महर्षि अवश्य ही ढूंढ कर आपकी सेवा में उपस्थित करूंगा जो आपके राजपुरोहिती के लिए उचित होंगे।”

यह कहकर ब्रह्मऋषि अपने भाई महर्षि याज्ञवल्क्य जी के आश्रम में आए। उनके अवकाश लेने एवं अन्य आध्यात्मिक विषयों पर चर्चाएं कीं और कुछ समय वहां रहे। फिर अपना 'नारायण नारायण' का जाप करते हुए घूमते हुए अपने पितृगृह ब्रह्मलोक को चले गए। रास्ते में सोचते जाते थे कि मैंने इतना बड़ा वचन महाराज जनक को दे तो दिया, लेकिन स्वयं ब्रह्मा के अंश मेरे सहोदर भाई महर्षि याज्ञवल्क्य जी के समान तो छोड़िये, उनके पासंग के बराबर भी ज्ञानी पुरुष मैं कहाँ से ढूंढ कर लाऊंगा जो

महाराज जनक की राजपुरोहिती स्वीकार करे? मेरे पिता ब्रह्मदेव इस में मेरी सहायता अवश्य करेंगे। यही सोचते सोचते वह ब्रह्मलोक में पहुँच गए।

वहां अपनी बहन अहिल्या को देखा और पिता से मिलन किया। ब्रह्मदेव ने अहिल्या के जन्म, उसका महर्षि गौतम जी के द्वारा लालन पालन एवं वयस्कता प्राप्त करने पर वापस ब्रह्मलोक में छोड़ने का समस्त विवरण विस्तार पूर्वक कहा। यह भी कहा कि इंद्रदेव ने अहिल्या को विवाह में माँगा है। महर्षि गौतम जी की प्रशंसा की। इस अपूर्व सुंदरी का लालन पालन करने में एक बार भी उनका मन इसकी सुंदरता के बारे में चिंतन करने पर नहीं डोला। कितने संयमी और ब्रह्मचर्य व्रत पालनहार हैं महर्षि गौतम जी! ऐसा चरित्रवान महर्षि मेरी पूर्ण सृष्टि में कहीं नहीं है।

ब्रह्मऋषि नारद जी विचार में डूब गए। अगर यह संभव हो सके कि मैं अहिल्या का विवाह महर्षि गौतम जी से करवा दूँ तो इनसे प्राप्त पुत्र अत्यंत महाज्ञानी होगा। अहिल्या स्वयं ब्रह्मा की पुत्री, मेरी और महर्षि याज्ञवल्क्य जी की बहन हैं। उनकी सुंदरता और ज्ञान, महर्षि गौतम जी का चरित्र और आध्यात्मिक ज्ञान, इसका कोई विकल्प नहीं। इन दोनों से प्राप्त पुत्र में इन दोनों के ही गुण होंगे। तुरंत अपना विचार पिता ब्रह्मदेव से कहा, "मेरी बहन का विवाह आप कामी, बहुविवाह वाले एवं अप्सराओं में लिप्त इंद्र से करेंगे, यह उचित नहीं। मेरी बहन का विवाह तो अत्यंत संयमी एवं महाज्ञानी महर्षि से ही होना चाहिए और मेरी समझ में इस सृष्टि में महर्षि गौतम से उपयुक्त अहिल्या के लिए कोई वर नहीं है।"

ब्रह्मदेव चिंता में पड़ गए। मैंने तो इंद्रदेव को वचन दिया है कि मैं उनके प्रस्ताव पर विचार करूंगा। क्या कहकर अब उनसे मना किया जाएगा? ब्रह्मदेव और ब्रह्मऋषि नारद जी में मंत्रणा होने लगी। ऐसा निश्चय हुआ कि ब्रह्मदेव यह घोषणा करें कि अहिल्या के विवाह के लिए एक प्रतियोगिता आयोजित की गई है। जो भी ब्रह्मलोक से प्रतियोगिता प्रारम्भ होने के पश्चात सब से पहले तीनों लोकों की परिक्रमा कर ब्रह्मलोक वापस लौट आएगा, उसी से अहिल्या का विवाह होगा। प्रतियोगिता की दिनांक निर्धारित कर दी गईं।

अब ब्रह्मऋषि नारद जी अपने भ्राता याज्ञवल्क्य जी के आश्रम मिथलापुरी पहुंचे और अपनी योजना से अवगत कराया। याज्ञवल्क्य जी की सहमति प्राप्त कर दोनों ने

मिलकर योजना बनाई। सर्व प्रथम महर्षि गौतम जी को विवाह के लिए मनाना था। ब्रह्मऋषि नारद जी ने महर्षि याज्ञवल्क्य जी की अनुमति से इस विवाह का विचार महर्षि गौतम जी के समक्ष रखने की योजना बनाई, इस सहमति के साथ कि यह प्रस्ताव ब्रह्मपुत्र महर्षि याज्ञवल्क्य जी का है। ब्रह्मऋषि नारद जी जानते थे कि महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रस्ताव को महर्षि गौतम जी कभी नहीं ठुकरायेंगे। पहली अड़चन तो संभवतः दूर हो जाएगी। ब्रह्मऋषि नारद जी को पूर्ण विश्वास था कि महर्षि गौतम जी विवाह को तो तैयार हो जायेंगे, परन्तु दूसरी अड़चन कि वह प्रतियोगिता में भाग लें और प्रथम भी आएं, यह कैसे संभव हो? इसका समाधान महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने तुरंत दे दिया।

महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने सुझाव दिया कि महर्षि गौतम के पास एक सुरभी नामक गौ माता हैं, जो कामधेनु माँ की बहन हैं। गौ माँ सुरभी की परिक्रमा तीनों लोकों की परिक्रमा के बराबर है। गौ माँ में तीनो लोकों का वास है। महर्षि गौतम जी को प्रतियोगिता प्रारम्भ होने के तुरंत पश्चात गौ माँ सुरभी की परिक्रमा करके शीघ्र ब्रह्मलोक पहुंचना है। जब शास्त्रार्थ होगा तो स्वयं महर्षि याज्ञवल्क्य जी यह सिद्ध कर देंगे कि गौ माँ सुरभी की परिक्रमा तीनों लोकों की परिक्रमा के बराबर है और महर्षि गौतम को विजयी घोषित कर देंगे।

इसी योजना के अनुसार कार्य हुआ। ब्रह्मऋषि नारद जी महर्षि गौतम जी के आश्रम पहुंचे। महर्षि याज्ञवल्क्य जी का प्रस्ताव कि उनका विवाह अहिल्या के साथ हो, सुनाया। बड़े अनमने मन से, परन्तु महर्षि याज्ञवल्क्य जी के प्रस्ताव को उनका आदेश मानकर महर्षि गौतम विवाह के लिये तैयार हो गए। प्रतियोगिता का दिन आया। योजना के अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्य जी को ब्रह्मदेव ने न्यायाधीश के पद पर बिठा दिया। महर्षि गौतम जी तुरंत प्रतियोगिता प्रारम्भ के पश्चात गौ माँ सुरभी की परिक्रमा कर ब्रह्मलोक पहुंचे। बाद में इंद्रदेव भी तीन लोकों की परिक्रमा करके पहुंचे। लेकिन महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने महर्षि गौतम जी को विजेता घोषित कर दिया। इंद्र ने यह निर्णय मानने से मना कर दिया। देवगुरु वृहस्पति इंद्र की ओर से शास्त्रार्थ करने को तैयार हुए। महर्षि याज्ञवल्क्य जी और देवगुरु वृहस्पति में शास्त्रार्थ हुआ। अंततः जीत महर्षि याज्ञवल्क्य जी की हुई और इस तरह अहिल्या का विवाह महर्षि गौतम जी के साथ हो गया।

इंद्र का छलावा

महर्षि गौतम जी विवाह पश्चात अपनी धर्मपत्नी अहिल्या के साथ नासिक के पास आश्रम बनाकर अपने शिष्यों के साथ रहने लगे। उस काल इस भूतल पर बारह वर्ष अनावृष्टि के कारण भयंकर अकाल पड़ा। परिणाम स्वरूप असंख्य जीवधारियों के साथ औषधियों का भी विनाश होने लगा। इस संदर्भ में महर्षि गौतम ने जन कल्याण हेतु सत्र यज्ञ का संकल्प किया। यह यज्ञ धर्म-पत्नी की पवित्रता, पतिव्रता, और आत्म-बलिदान से ही संपन्न हो सकता था। अहिल्या जी में यह सभी गुण विद्यमान थे। उन्होंने अपने पति का इस जन कल्याण यज्ञ में पूर्ण साथ दिया।

पितामह ब्रह्मा महर्षि गौतम एवं अहिल्या के संकल्प पर हर्षित हुए। उन्होंने चिंतामणि सदृश धान के बीज महर्षि गौतम को प्रदान किए। उन बीजों का महात्म्य था कि यदि प्रथम पहर में वह बीज बो दिए जाते तो दूसरे पहर में कटाई के लिए तैयार हो जाते। मध्याह्न के समय धान से अन्न बनाकर प्राणी भोजन कर सकते थे।

पितामह ब्रह्मा से प्राप्त इस अपूर्व धान के बीज प्राप्त होने के कारण महर्षि गौतम एवं अहिल्या यज्ञ में सम्मिलित हुए सभी प्राणियों को समय पर अन्नदान कराते रहे। यह समाचार दावानल की भांति सर्वत्र फैल गया। क्षुधा पीड़ित प्राणी आश्रम में पहुंचने लगे। समस्त मुनि मंडल भी समय पर महर्षि गौतम के आश्रम में पहुंचा और सत्कार पाकर यज्ञ समाप्ति तक वहीं रहा।

इस मध्य अनावृष्टि भी समाप्त हो गई। समस्त भूमंडल पर भारी वर्षा हुई। सारी धरती शस्य-श्यामला हो हरीतिमा से लहलहा उठी। अन्न का अकाल दूर हो गया।

महर्षि गौतम अपनी पत्नी अहिल्या के साथ सुख से अपने नासिक आश्रम में रह रहे थे। देवराज इंद्र ब्रह्मदेव को अहिल्या से अपने विवाह करने का प्रस्ताव और उसका ब्रह्मदेव द्वारा तिरष्कार को अभी भूले नहीं थे। अहिल्या की सुंदरता उनके मन मष्तिष्क में बुरी तरह छाई हुई थी। हर संभव मौका ढूंढते थे कि किस तरह अहिल्या से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित किये जांय। एक रात्रि उन्हें इसका अवसर मिल ही गया।

इन्द्र को अहिल्या के रूप को पाने की एक युक्ति सूझी। उन्होंने प्रातः महर्षि गौतम के वेश में आकर अहिल्या के साथ काम क्रीड़ा करने की योजना बनाई। सूर्य उदय होने से पूर्व ही महर्षि गौतम नदी में स्नान करने एवं नित्य कर्म के लिए चले जाते थे और इसके बाद करीब २-३ घंटे बाद पूजा करने के बाद ही अपनी कुटी में वापस आते थे। इन्द्र आधी रात से ही कुटिया के बाहर छिपकर महर्षि के जाने की प्रतीक्षा करने लगे। इस दौरान इन्द्र की कामेच्छा उन पर इतनी हावी हो गई कि उन्हें एक और योजना सूझी। उन्होंने अपनी माया से ऐसा वातावरण बनाया जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि प्रातः हो गई। इस माया को सत्य समझकर महर्षि गौतम कुटिया से बाहर चले गए। उनके स्नान, पूजा आदि के लिए जाने के कुछ समय बाद इन्द्र ने गौतम महर्षि का वेश बनाया और कुटिया में प्रवेश किया। उन्होंने आते ही अहिल्या से प्रणय निवेदन किया। अपने पति द्वारा इस तरह के विचित्र व्यवहार को देखकर देवी अहिल्या को शंका हुई। महा पतिव्रता अहिल्या ने इंद्र की विशेष सुगन्धि से उन्हें पहचान लिया। इंद्रदेव को समझाने का प्रयास किया कि वह एक पतिव्रता विवाहिता नारी हैं तथा यह उनके सतीत्व का अपमान होगा। लेकिन इंद्र का मन-मष्तिष्क तो बुरी तरह से काम वासना से पीड़ित था। अहिल्या ने शांति पूर्व ढंग से विनय की कि इंद्रदेव वापस लौट जाएँ अन्यथा अपने सतीत्व के तेज से वह श्राप दे देंगी। अब इंद्र को होश आया और वह चुपचाप वहां से जाने लगे।

दूसरी ओर नदी के पास जाने पर महर्षि गौतम ने आस पास का वातावरण देखा जिससे उन्हें अनुभव हुआ कि अभी भोर नहीं हुई है। वह किसी अनहोनी की कल्पना करके अपने आश्रम तुरंत लौटे। वहां जाकर उन्होंने देखा कि उनके वेश में कोई दूसरा पुरुष उनकी कुटिया से बाहर निकल रहा है।

यह देखते ही वह क्रोधित हो गए। क्रोध में महर्षि गौतम ने इन्द्र से कहा, “मूर्ख, तूने मेरी पत्नी के स्त्रीत्व भंग का प्रयास किया है। उसकी योनि को पाने की इच्छा मात्र के लिए तूने इतना बड़ा अपराध करने का प्रयास किया। तुझे स्त्री योनि को पाने की इतनी ही लालसा है तो मैं तुझे श्राप देता हूं कि अभी इसी समय तेरे पूरे शरीर पर सहस्त्र योनियां उत्पन्न हो जाएं।”

कुछ ही पलों में श्राप का प्रभाव इन्द्र के शरीर पर पड़ने लगा और उनके पूरे शरीर पर सहस्त्र स्त्री योनियां निकल आई। यह देखकर इन्द्र आत्मग्लानिता से भर उठे। उन्होंने

हाथ जोड़कर गौतम महर्षि से श्राप मुक्ति की प्रार्थना की। महर्षि ने इन्द्र पर दया करते हुए सहस्त्र स्त्री योनियों को सहस्त्र आंखों में बदल दिया।

इधर अहिल्या यह दृश्य देखकर क्षुब्धित हो गईं। उनके मस्तिष्क को इतना आघात लगा कि वह पत्थर जैसी हो गईं।

तब पुत्र सतानंद ने अपने पिता की बहु भांति स्तुति की तथा माँ को इस क्षुब्धिता से बाहर निकालने की प्रार्थना की। महर्षि गौतम बालक सतानंद की प्रार्थना से प्रसन्न होकर बोले कि भगवान् राम का जब इस आश्रम में महर्षि विश्वामित्र के साथ आगमन होगा तब उनकी चरण रज पड़ने से तुम्हारी माँ की क्षुब्धिता समाप्त होगी और फिर से वह अपने ज्ञान को प्राप्त करेंगी। इसी समय ब्रह्मऋषि नारद जी का वहां आगमन हुआ। अपने पुत्र सतानंद को उन्होंने ब्रह्मऋषि को सौंपा जो उन्हें महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में ले गए। महर्षि विश्वामित्र से दीक्षा ले उन्होंने वहां समस्त विद्याएं ग्रहण कीं।

पुत्री अंजनी तपस्या करने ऋष्यमूक पर्वत पर चली गईं। शरद्वान जी (महर्षि गौतम के दूसरे पुत्र) धनुर्विद्या शिक्षा के लिए पहले ही भगवान् परशुराम के पास जा चुके थे। स्वयं महर्षि गौतम ने भी जब तक अहिल्या पूर्ववत चेतन स्थिति में नहीं आ जातीं तब तक भगवान् शिव शंकर की आराधना के लिए कैलास जाने का संकल्प लिया। अपनी परम शिष्या सुशीला को अहिल्या की सेवा सुश्रुषा करने छोड़ा तथा कैलास को प्रस्थान किया।

महर्षि वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड का वर्णन ध्यान देने योग्य है। इस महाकाव्य से अहिल्या की दोष रहितता प्रकट होती है। महर्षि अगस्त्य कहते हैं कि जब ब्रह्मा ने अहिल्या को महर्षि गौतम को सौंपा तो इन्द्र का अहिल्या के प्रति ऐसा विचार बलात्कार एवं शारीरिक शोषण को प्रोत्साहित करने वाला था। इस विचार की शोषिता अहिल्या अपने ऊपर हुए इस अत्याचार की ग्लानि के कारण अपने मन की शांति खो बैठी। सुन्दर देह तो अवश्य रह गई पर वह अद्वितीय सुन्दर भाव खो गए जो एक सुन्दर स्त्री के पास जन्मजात होते हैं। जब अहिल्या ने प्रतिवाद में कहा कि वह अपराधिनी नहीं है, तब महर्षि गौतम ने कहा कि वह उसे पुन: स्वीकार कर लेंगे जब भगवान् राम उसे अपने स्पर्श से पवित्र करेंगे।

‘कथा सरित सागर’ में अहिल्या की मानसिक अवस्था का संकेत मिलता है। ‘कथा सरित सागर’ में ऐसा वर्णन है कि महर्षि गौतम ने उन्हें शिला में परिवर्तित होने का श्राप दिया। कथा सरित सागर में आगे वर्णन है कि यहां कोई शरीर पत्थर में नहीं बदला बल्कि सामाजिक बहिष्कार और स्वयं की मानसिक पीड़ा ही इस रूप में प्रायश्चित का संकेत हैं। अहिल्या एक जीती जागती शिला बन कर रह गई थीं, भावशून्य, आत्म-सम्मान रहित। भगवान् श्री राम ने उन्हें दोष-रहित मान कर सम्मान दिया और जब श्री लक्ष्मण ने उनके पैर छुए तब उन्हें खोया हुआ सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा पुन: मिली ताकि वह फिर से अपना जीवन सच्चे अर्थों में जी सकें। महर्षि विश्वामित्र ने बार बार उन्हें 'महाभागा' कहा, गुणों और पवित्रता से ओत प्रोत। महर्षि वाल्मीकि के विवरणों में यह कहा गया है कि भगवान् श्री राम ने उनकी आवश्यकता को जाना और चरण रज स्पर्श से उन्हें मुक्ति दी।

यह उनके चरित्र की पवित्रता है। यह उनकी असाधारण सुन्दरता और कालातीत सत्य है जिसके कारण अहिल्या को पञ्च कन्याओं में प्रथम कन्या का पवित्र और प्रमुख स्थान मिला। महर्षि विश्वामित्र की दृष्टि में अहिल्या एक पूजनीय स्त्री हैं।

अहिल्या उद्धार का चित्रण गोस्वामी तुलसी दास जी ने बहुत अच्छे ढंग से श्री राम चरित मानस में किया है।

जब भगवान् श्री राम, ताड़का, सुबाहू और अन्य राक्षसों का वध कर मुनियों के यज्ञों की रक्षा करने के पश्चात माँ सीता के स्वयंवर देखने के लिए महर्षि विश्वामित्र जी के साथ जनकपुरी जा रहे थे, तब रास्ते में उन्होंने एक आश्रम देखा जो रिक्त सा लग रहा था।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।।
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी।।

भावार्थः *मार्ग में एक आश्रम दिखाई पड़ा। वहाँ पशु-पक्षी अथवा कोई भी जीव जन्तु नहीं था। पत्थर शिलावत एक स्त्री को देखकर प्रभु ने पूछा। तब मुनि ने विस्तारपूर्वक सब कथा कही।*

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर।।

भावार्थः *गौतम मुनि की स्त्री अहिल्या श्रापवश पत्थरवत देह धारण किए बड़े धीरज से आपके चरण कमलों की धूलि चाहती है। हे रघुवीर, इस पर कृपा कीजिए।*

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही।।
अति प्रेम अधीरा पुलक शरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही।।

भावार्थः *श्री रामजी के पवित्र और शोक को नाश करने वाले चरण रज का स्पर्श पाते ही वह तपोमूर्ति अहिल्या ज्ञान रूप शरीर में प्रकट हो गई। भक्तों को सुख देने वाले श्री रघुनाथ जी को देखकर वह हाथ जोड़कर सामने खड़ी हो गईं। अत्यन्त प्रेम के कारण वह अधीर हो गईं। उनका शरीर पुलकित हो उठा। मुख से वचन कहने में नहीं आते थे। वह अत्यन्त बड़ भागिनी अहिल्या प्रभु के चरणों से लिपट गई और उनके दोनों नेत्रों से जल (प्रेम और आनंद के आँसुओं) की धारा बहने लगी।*

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपाँ भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ग्यानगम्य जय रघुराई।।
मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावन रिपु जन सुखदाई।
राजीव बिलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई।।

भावार्थः *फिर उन्होंने मन में धीरज धरकर प्रभु को पहचाना और श्री रघुनाथजी की कृपा से भक्ति प्राप्त की। तब अत्यन्त निर्मल वाणी से उन्होंने (इस प्रकार) स्तुति प्रारंभ की, "हे ज्ञान से जानने योग्य श्री रघुनाथजी, आपकी जय हो! मैं (सहज ही) अपवित्र स्त्री हूँ, और हे प्रभो, आप जगत को पवित्र करने वाले, भक्तों को सुख देने वाले और रावण के शत्रु हैं। हे कमलनयन, हे संसार (जन्म-मृत्यु) के भय से छुड़ाने वाले, मैं आपकी शरण आई हूँ, (मेरी) रक्षा कीजिए, रक्षा कीजिए।*

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भव मोचन इहइ लाभ संकर जाना।।

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागउँ बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।।

भावार्थ: *मुनि ने जो मुझे श्राप दिया सो बहुत ही अच्छा किया। मैं उसे अत्यन्त अनुग्रह (करके) मानती हूँ कि जिसके कारण मैंने संसार से छुड़ाने वाले श्री हरि (आप) को नेत्र भरकर देखा। इसी (आपके दर्शन) को शंकर जी सबसे बड़ा लाभ समझते हैं। हे प्रभो, मैं बुद्धि की बड़ी भोली हूँ, मेरी एक विनती है। हे नाथ, मैं और कोई वर नहीं माँगती, केवल यही चाहती हूँ कि मेरा मन रूपी भौंरा आपके चरण कमल की रज के प्रेम रूपी रस का सदा पान करता रहे।*

जेहिं पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी।।
एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पति लोक अनंद भरी।।

भावार्थ: *जिन चरणों से परम पवित्र देव नदी गंगा जी प्रकट हुईं, जिन्हें शिवजी ने सिर पर धारण किया और जिन चरण रज को ब्रह्मा जी पूजते हैं, कृपालु हरि (आप) ने उसी रज को मेरे सिर पर धारण कराया।*

इस प्रकार (स्तुति करती हुई) बार बार भगवान के चरणों में गिरकर, जो मन को बहुत ही अच्छा लगा उस वर को पाकर, गौतम की स्त्री अहिल्या आनंद में भरी हुई पतिलोक को चली गईं।

इस तरह इस के पश्चात फिर से अहिल्या जी का गौतम महर्षि से पुनर्मिलन हुआ।

द्वितीय पञ्चकन्या – तारा

समुद्र मंथन से अवतरण एवं विवाह

किष्किंधा की महारानी और किष्किंधा सम्राट वानरराज बालि की पत्नी तारा का पञ्च कन्याओं में द्वितीय स्थान है। ग्रंथों के अनुसार देवगुरु बृहस्पति की पौत्री तारा समुद्र मंथन के समय निकली मणियों में से एक मणि थी। तारा इतनी सुन्दर थीं कि देवता और असुर, सभी उनसे विवाह करना चाहते थे।

किष्किंधा के सम्राट वानरराज बालि एवं उनके छोटे भ्राता सुग्रीव किष्किंधा के युवराज थे। वानरराज बालि और सुग्रीव के जन्म को लेकर एक रोचक प्रसंग पौराणिक कथाओं है। ऐसा कहा जाता है कि वानरराज बालि और सुग्रीव इन्द्र और अरुण के पुत्र थे। इन्द्र देवताओं के राजा हैं और अरुण सूर्य देव के सारथी। ऐसी मान्यता है कि सूर्य देव प्रतिदिन सात श्वेत घोड़ों के रथ में सवार होकर प्रातः आते हैं जिसका संचालन अरुण करते है। एक बार की बात है कि महर्षि विश्वामित्र जी ने सूर्य देव को यह श्राप दे दिया कि वह पृथ्वी के ऊपर प्रकाशमान नहीं होंगे। इस श्राप से प्रभावित सूर्य देव ने रथ की सवारी बन्द कर दी, अतः अरूण के पास कोई काम नहीं रहा। अरुण सदैव स्वर्ग लोक में सूर्य देव के साथ वहां की अप्सराओं के दिव्य नृत्य देखने के आदी थे। अब उनका नृत्य देखना भी बंद हो गया। उन्होंने कुछ विचार कर एक युवती का वेष धारण किया और अप्सराओं का नृत्य देखने इंद्र देव की सभा में पहुँच गए। इंद्र देव, जो कि नृत्य का आनन्द ले रहे थे, उन्होंने अरुण को अत्यंत सुन्दर रूपवती युवती के रूप में देखा और उन पर मोहित हो गए। दोनों ने समागम किया और कालांतर में अरुण ने वानरराज बालि एवं सुग्रीव को जन्म दिया। दोनों का पालन पोषण गौतम ऋषि की पत्नी अहिल्या ने किया। इसी कारण कुछ ग्रन्थ उनको महर्षि गौतम के पुत्र भी बताते हैं।

वानरराज बालि और सुषेण (रावण के वैद्यराज जिन्होंने लक्ष्मण की संजीवनी बूटी द्वारा प्राण रक्षा की) समुद्र मंथन के समय देवताओं के सहायक के रूप में वहां उपस्थित थे। आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र मंथन किया था। समुद्र मंथन में १४ मणियों निकलीं थीं जिनमें से एक तारा भी थीं। जब उन्होंने तारा को देखा तो दोनों उनकी सुंदरता से मुग्ध हो गए। उन दोनों में उन्हें पत्नी बनाने की होड़ लगी।

तारा को लेकर दोनों में युद्ध की स्थिति हो चली तब भगवाण विष्णु ने मध्यस्थता कर इसका समाधान निकाला। उन्होंने कहा, ‘दोनों तारा के पास खड़े हो जाओ’। वानरराज बालि तारा के दाहिनी ओर तथा सुषेण उसके बाईं ओर खड़े हो गए। तब श्री विष्णु ने कुछ देर दोनों को देखने के बाद निर्णय सुनाया कि धर्म नीति के अनुसार विवाह के समय कन्या के दाहिनी ओर उसका होने वाला पति तथा बाईं ओर कन्यादान करने वाला पिता खड़ा होता है। अतः वानरराज बालि तारा के पति तथा सुषेण उनके पिता घोषित किये जाते है। इस तरह इस निर्णय के अनुसार वानरराज बालि ने सुंदर तारा से विवाह किया।

अजेय पति वानरराज बालि

वानरराज बालि को उनके पिता इन्द्र देव ने एक स्वर्ण हार भेंट स्वरुप दिया था जो ब्रह्मा जी द्वारा मंत्रयुक्त था। इसको पहनकर वानरराज बालि जब भी रणभूमि में अपने शत्रु का सामना करते थे तो उनके शत्रु की आधी शक्ति क्षीण हो जाती थी जिसके कारण वानरराज बालि को विजय प्राप्त होती थी। इस कारण वानरराज बालि लगभग अजेय थे। वाल्मीकि रामायण में ऐसा प्रसंग आता है कि एक बार जब वानरराज बालि संध्या वन्दन के लिए जा रहे थे तो आकाश मार्ग से ब्रह्मर्षि नारद मुनि भी उसी मार्ग से जा रहे थे। वानरराज बालि ने उनका अभिवादन किया तो ब्रह्मर्षि नारद ने बताया कि वह लंका जा रहे हैं जहाँ लंकापति रावण ने देवराज इन्द्र को परास्त करने के उपलक्ष में भोज का आयोजन किया है। चञ्चल स्वभाव के ब्रह्मर्षि नारद ने जिन्हें सर्वज्ञान है, वानरराज बालि से चुटकी लेने की कोशिश की और कहा कि अब तो पूरे ब्रह्माण्ड में केवल रावण का ही आधिपत्य है और सारे प्राणी, यहाँ तक कि देवतागण भी उसे ही शीश नवाते हैं। वानरराज बालि ने कहा, 'हे ब्रह्मऋषि, रावण ने अपने वरदान और अपनी सेना का प्रयोग निर्बलों को दबाने में किया है। लेकिन मैं उन निर्बलों में से एक नहीं हूँ, यह बात आप रावण को स्पष्ट कर दें।'

सर्वज्ञानी ब्रह्मर्षि नारद ने यह बात रावण को जा कर बताई, जिसे सुनकर रावण क्रोधित हो गया। उसने अपनी सेना तैयार करने के आदेश दे दिए। ब्रह्मर्षि नारद ने उससे तब चुटकी लेते हुए कहा कि एक वानर के लिए यदि आप पूरी सेना लेकर जायेंगे तो आपके सम्मान के लिए उचित नहीं होगा। रावण तुरन्त मान गया और अपने पुष्पक विमान में बैठकर वानरराज बालि के पास पहुँच गया। वानरराज बालि उस समय संध्या वन्दन कर रहे थे। वानरराज बालि की स्वर्णमयी कांति देखकर रावण घबरा गया। उसका साहस मुख पर वार करने का नहीं हुआ, अतः उसने वानरराज बालि के ऊपर पीछे से वार करने की चेष्टा की। वानरराज बालि अपनी पूजा अर्चना में तल्लीन थे लेकिन फिर भी उन्होंने उसे अपनी पूँछ से पकड़कर और उसका सिर अपने बगल में दबाकर पूरे विश्व में घुमाया। उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि संपूर्ण विश्व के प्राणी रावण को इस असहाय अवस्था में देखें और उनके मन से उसका भय निकल जाये। इसके पश्चात् रावण ने अपनी पराजय स्वीकार की और वानरराज बालि की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाया जिसे वानरराज बालि ने स्वीकार कर लिया।

असुर मायावी से द्वन्द एवं तारा का भ्रम

वानरराज बालि के बारे में यह कहा जाता है कि यदि कोई उन्हें द्वंद्व के लिए ललकारता तो वह तुरन्त तैयार हो जाते थे। माया नामक असुर स्त्री के दो पुत्र थे, मायावी तथा दुंदुभि। मायावी की वानरराज बालि से बड़ी पुरानी शत्रुता थी। मायावी एक रात किष्किन्धा आया और उसने वानरराज बालि को द्वंद्व के लिए ललकारा। पत्नी तारा के मना करने के बाद भी वानरराज बालि उस असुर के पीछे भागे। साथ में सुग्रीव भी उनके साथ युद्ध में गए। भागते भागते मायावी पृथ्वी के नीचे बनी एक कन्दरा में घुस गया। वानरराज बालि भी उसके पीछे पीछे गए। जाने से पहले उन्होंने सुग्रीव से कहा कि जब तक वानरराज बालि इस असुर का वध कर वापस नहीं लौटें तब तक सुग्रीव उस कन्दरा के मुख पर खड़े होकर पहरा दे। एक वर्ष से अधिक अन्तराल के पश्चात कन्दरा के मुख से रक्त बहता हुआ बाहर आया। सुग्रीव ने असुर की चीत्कार तो सुनी परन्तु वानरराज बालि की नहीं। वानरराज बालि ने मायावी का वध तो कर दिया परन्तु मरने से पहले उस मायावी ने वानरराज बालि के स्वर में घोर चीत्कार किया। वानरराज बालि के स्वर के चीखने का स्वर एवं कंदरा से बाहर आते रक्त को देख सुग्रीव यह समझ बैठे कि मायावी ने उसके भ्राता वानरराज बालि का वध कर दिया है। अब वह मुझे भी मार डालेगा, इस भय से उन्होंने एक बड़े पत्थर से उस गुफा को बंद कर दिया और वहां से अपनी राजधानी किष्किंधा को चले गए। उन अज्ञानी को यह नहीं पता कि उनका भाई वानरराज बालि जीवित है, उसने मायावी का वध कर दिया है।

उन्होंने किष्किंधा आकर यह दुःख द समाचार सबको सुनाया।

यह दुःखद समाचार सुन तारा मूर्छित हो गईं। जब वह चेत अवस्था में आईं तब उन्होंने निर्णय किया कि वह पति की मृत्यु के पश्चात जीवित नहीं रह सकतीं, अतः चिता में अपने तन को अर्पित कर सती हो जाएँगी।

तारा के सती होने के निर्णय ने समस्त किष्किंधा को हिला दिया। अभी तो अंगद पूर्ण रूप से युवक भी नहीं हुए हैं। पिता का मरण और अब माँ का भी सती होने का निर्णय, वह माँ का विरह कैसे सह पाएंगे? कहीं वह भी अपने प्राण न त्याग दें? वृद्ध मंत्री जामवंत को एक ही मार्ग सूझा कि इस समाचार को तुरंत महर्षि मतंग को पहुंचाया

जाए। वह ही किसी प्रकार महारानी तारा को समझा सकते हैं ताकि वह अपने सती होने के निर्णय को परिवर्तित कर दें।

महर्षि मतंग को जब यह समाचार मिला तो दिव्य दृष्टि से उन्होंने तुरंत जान लिया कि वानरराज बालि अभी जीवित हैं। उन्होंने यह भी जान लिया कि प्रभु इस लीला को अभी गुप्त रखना चाहते हैं। उन्होंने तुरंत महात्मा शबरी को अपने समीप बुलाया और कहा, 'प्रिय शबरी, महारानी तारा समझतीं हैं कि वानरराज बालि मृत्यु को प्राप्त हो गए हैं, अतः वह सती होना चाहतीं हैं। किन्तु यह सत्य नहीं है। वानरराज बालि जीवित हैं, और किन्हीं कारणों से प्रभु भी इस लीला को अभी गुप्त ही रखना चाहते हैं। मेरा निवेदन है कि तुम तुरंत किष्किंधा नगरी को प्रस्थान करो और तारा को समझाओ कि वह सती न हों। भगवान् की लीला को गुप्त रखते हुए इस समय तुम्हें बस तारा को सती होने से बचाना है।'

महर्षि मतंग का आदेश मान महात्मा शबरी ने तुरंत बालीग्राम को प्रस्थान किया। थोड़े ही समय में महात्मा शबरी बालीग्राम पहुँच गईं। देखा, पूरा नगर दुःख में डूबा हुआ है। वानरराज बालि की मृत्यु के शोक में बालीग्राम का ध्वज झुका हुआ था। तभी उन्हें आपातकाल सभा की घोषणा सूचक बिगुल सुनाई दिया। युवराज सुग्रीव ने सभी वरिष्ठ मंत्रीगणों की आपातकाल सभा बुलाई है। सिंहासन को अधिक समय के लिए रिक्त नहीं रखा जा सकता, अतः यह निश्चय करना है कि अब सिंहासन पर किसे आसीन किया जाए? तभी एक सैनिक द्वारा महात्मा शबरी ने अपने आने का समाचार युवराज सुग्रीव एवं साम्राज्ञी तारा को भिजवाया। समाचार सुन युवराज सुग्रीव नंगे पैरों ही महात्मा शबरी का अभिनंदन एवं स्वागत करने नगर द्वार की ओर दौड़े। यथोचित चरण स्पर्श द्वारा अभिवादन कर वह महात्मा शबरी को साम्राज्ञी तारा के पास ले गए।

साम्राज्ञी तारा के ऊपर दुःख का पहाड़ ही टूटा पड़ा था। उनके बाल बिखरे हुए थे। उनके लाल नेत्र बता रहे थे कि वह संभवतः कई दिनों से सोई नहीं हैं तथा निरंतर रोती रहीं हैं। महात्मा शबरी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। सांत्वना भरे प्रेम शब्द बोलते हुए बोलीं, 'प्रिय तारा, स्वयं ब्रह्म-ज्ञान प्राप्ता होते हुए भी यह क्या हाल तुमने बना रखा है? वानरराज बालि कंदरा में गए अवश्य थे, और हाँ कंदरा से रक्त बहते हुए भी युवराज सुग्रीव ने देखा था, लेकिन उनका शव तो बरामद नहीं हुआ। वानरराज बालि के स्वर

में वीभत्स पुकार अवश्य युवराज ने सुनी, लेकिन तुम और मैं भली भांति जानते हैं कि मायावी किसी भी प्रकार के स्वर बनाने में दक्ष है। अतः जब तक वानरराज बालि का शव नहीं मिल जाता तब तक तुम्हारा यह शोक निरर्थक है और सती हो जाने के लिए तत्पर होना धर्म विरुद्ध है। मुझे ऐसा विश्वास है कि वानरराज बालि शीघ्र ही वापस आएंगे। अतः शोक छोड़ इस समय राज्य की उचित व्यवस्था करने का प्रबंध करो और पुत्र अंगद को सम्हालो। सभा जा साम्राज्ञी के अधिकार को प्रयोग में लाते हुए जब तक वानरराज बालि वापस नहीं आ जाते तब तक सुग्रीव का राज-सिंहासन तिलक करो और उन्हें राज कार्य करने में मदद करो।'

साम्राज्ञी तारा किंकर्तव्यविमूढ़ हो महात्मा शबरी को आश्चर्य दृष्टि से देखने लगीं। हाँ, यह जो माँ शबरी ने कहा, मैंने सोचा ही नहीं? यह समय शोक मनाने का नहीं बल्कि पुत्र अंगद को सम्हालने का और राज्य की सुदृढ़ व्यवस्था करने का है। माँ ने ठीक ही कहा है कि इसका कोई प्रमाण नहीं हैं कि वानरराज बालि का वध हो गया है।
तुरंत शोक छोड़ उठी साम्राज्ञी तारा, महात्मा शबरी के चरण स्पर्श किए और शोक गृह से निकल राज सभा जाने की तैयारी करने लगीं। साथ में महात्मा शबरी को भी सभा में चलने के लिए प्रार्थना की।

साम्राज्ञी तारा के साथ महात्मा शबरी युवराज सुग्रीव के द्वारा बुलाई गई सभी मंत्रीगणों की आपातकाल सभा में पहुँची। सभी ने तुरंत खड़े होकर महात्मा शबरी एवं साम्राज्ञी का स्वागत किया। साम्राज्ञी ने महात्मा शबरी को एक उच्च स्थान पर बिठा फिर सभा को सम्बोधित किया।

'प्रिय युवराज सुग्रीव, वानरराज बालि के समर्थक मंत्रीगणों एवं सेनापति, हम एक दुःखद घटना के मध्य से जा रहे हैं। माँ शबरी के आदेशानुसार एवं गहन विचार के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँची हूँ कि यह समय युवराज सुग्रीव का राज-सिंहासन अभिषेक करने का है, अतः मैं इसका समर्थन करती हूँ। पुत्र अंगद के लालन पालन हेतु और माँ शबरी के समझाने पर कि इस समय सती होना धर्म विरुद्ध है, मैंने सती होने की हठ का भी त्याग कर दिया है। मैं और मेरा पुत्र अंगद अब सम्राट सुग्रीव को पूर्ण समर्थन देंगे।'

'साम्राज्ञी तारा की जय हो, जय हो', इन नारों से पूरी सभा गूँज उठी। तब साम्राज्ञी तारा सभा से बाहर आ गईं और महात्मा शबरी के साथ अपने महल चलीं गई। पूर्ण आदर सत्कार के साथ माँ शबरी की विधिवत पूजा की। इसके पश्चात महात्मा शबरी ने अपने आश्रम प्रस्थान के लिए साम्राज्ञी तारा से आज्ञा माँगी। आदर पूर्वक साम्राज्ञी तारा एवं सम्राट सुग्रीव ने उन्हें तब विदा किया। कुछ ही समय में महात्मा शबरी अपने आश्रम लौटीं और अगले दिन ही महर्षि मतंग के आश्रम के लिए प्रस्थान कर गईं जहां ब्रह्मऋषि नारद उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

वानरराज बालि का वापस आना और सुग्रीव पर क्रुद्ध होना

कुछ समय पश्चात वानरराज बालि प्रकट हुए और अपने अनुज को राजा देख बहुत कुपित हुए। सुग्रीव ने उन्हें समझाने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु वानरराज बालि ने उसकी एक न सुनी और सुग्रीव के राज्य तथा पत्नी रूमा को हड़पकर उन्हें देश निकाला दे दिया। डर के कारण सुग्रीव ने ऋष्यमूक पर्वत में शरण ली जहाँ श्राप के कारण वानरराज बालि नहीं जा सकते थे।

वानरराज बालि ऋष्यमूक पर्वत पर क्यों नहीं जा सकते थे, इस के पीछे भी एक पौराणिक कथा है। माया असुर के दूसरे पुत्र दुंदुभि को अपने बल पर इतना दंभ हो गया कि उसने समुद्र देव को द्वंद्व युद्ध के लिये ललकारा। यद्यपि समुद्र देव उसका दंभ वहीं समाप्त कर सकते थे लेकिन नम्रता से उन्होंने कहा कि दुंदुभि जैसे वीर से वह द्वंद्व करने में असमर्थ हैं। उन्होंने दुंदुभि को पर्वतों के राजा हिमवान के पास जाने को कहा। दुंदुभि हिमवान के पास गया तो हिमवान ने भी उससे युद्ध करने के लिए मना कर दिया तथा उससे इन्द्र के पुत्र वानरराज बालि को ललकारने का सुझाव दिया जो किष्किन्धा के राजा थे। दुंदुभि तब किष्किन्धा गया और वानरराज बालि को द्वंद्व के लिए ललकारा। वानरराज बालि ने पहले तो दंभी दुंदुभि को समझाने का प्रयास किया परन्तु जब वह नहीं माना तो वानरराज बालि द्वंद्व के लिए सहमत हो गए। दुंदुभि को बड़ी सरलता से हराकर उसका वध कर दिया। इसके पश्चात् वानरराज बालि ने दुंदुभि के निर्जीव शरीर को उछालकर एक ही झटके में एक योजन दूर फेंक दिया। शरीर से टपकती रक्त की बूंदें महर्षि मतङ्ग के आश्रम में गिरीं जो कि ऋष्यमूक पर्वत में स्थित था। रक्त की बूंदों से उनकी साधना की पवित्रता भंग हो गई। क्रोधित महर्षि मतङ्ग ने वानरराज बालि को श्राप दे डाला कि यदि वानरराज बालि कभी भी उनके आश्रम के एक योजन के अंदर आएगा तो वह मृत्यु को प्राप्त होगा। इस कारण वानरराज बालि ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं जाते थे।

वानरराज बालि का वध

प्रतिबिंबित माँ सीता के रावण द्वारा हरण के बाद जब श्री राम माँ सीता को खोजते हुए ऋष्यमूक पर्वत पहुंचे और हनुमान जी ने उनकी मित्रता सुग्रीव से कराई तब भगवान् श्री राम ने वानरराज बालि का वध किया और सुग्रीव का राज्याभिषेक कराया।

श्री रामचरितमानस के अनुसार जब श्री राम के कहने पर सुग्रीव ने वानरराज बालि को ललकारा तब तारा समझ गईं कि सुग्रीव के पास स्वयं से वानरराज बालि का सामना करने की सामर्थ्य नहीं है, इसलिए हो ना हो उसे श्री राम का समर्थन प्राप्त हुआ है। ब्रह्मा की पौत्री महारानी तारा की दिव्य दृष्टि ने यह अवगत करा दिया कि श्री राम भगवान् विष्णु के अवतार हैं। अतः उन्होंने वानरराज बालि के सुग्रीव से द्वन्द युद्ध का पूर्णतः विरोध किया। वानरराज बालि को समझाने की कोशिश भी की लेकिन वानरराज बालि ने समझा कि सुग्रीव को बचाने के लिए तारा उसका पक्ष ले रही है। वानरराज बालि ने तारा को अनसुना कर दिया और सुग्रीव से युद्ध करने चला गया।

इस समस्त कथा का श्री गोस्वामी तुलसी दास जी ने श्री रामचरितमानस के किष्किंधा काण्ड में बड़ा ही अच्छा चित्रण किया है।

नाथ बालि अरु मैं द्वौ भाइ। प्रीति रही कछु बरनि न जाई।।
मयसुत मायावी तेहि नाऊँ। आवा सो प्रभु हमरें गाऊँ।।

(सुग्रीव ने कहा) 'हे नाथ, वानरराज बालि और मैं दो भाई हैं। हम दोनों में ऐसी प्रीति थी कि वर्णन नहीं की जा सकती। हे प्रभो, मय दानव का एक पुत्र था, उसका नाम मायावी था। एक बार वह हमारे गाँव में आया।'

अर्ध राति पुर द्वार पुकारा। बाली रिपु बल सहै न पारा।।
धावा बालि देखि सो भागा। मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा।।

उसने आधी रात को नगर के फाटक पर आकर पुकारा (ललकारा)। वानरराज बालि शत्रु के बल (ललकार) को सह नहीं सका। वानरराज बालि को देखकर मायावी भागा। मैं भी भाई के संग लगा चला गया।

गिरिबर गुहाँ पैठ सो जाई। तब बालीं मोहि कहा बुझाई।।
परिखेसु मोहि एक पखवारा। नहिं आवौं तब जानेसु मारा।।

वह मायावी एक पर्वत की गुफा में जा घुसा। तब वानरराज बालि ने मुझे समझाकर कहा, "तुम एक पखवाड़े (पंद्रह दिन) तक मेरी बाट देखना। यदि मैं उतने दिनों में न आऊँ तो जान लेना कि मैं मारा गया।"

मास दिवस तहँ रहेउँ खरारी। निसरी रुधिर धार तहँ भारी।।
बालि हतेसि मोहि मारिहि आई। सिला देइ तहँ चलेउँ पराई।।

हे खरारि, मैं वहाँ महीने भर तक रहा। वहाँ (उस गुफा में से) रक्त की बड़ी भारी धारा निकली। तब मैंने समझा कि उसने वानरराज बालि को मार डाला, अब आकर मुझे मारेगा। इसलिए मैं वहाँ (गुफा के द्वार पर) एक शिला लगाकर भाग आया।

मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं। दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं।।
बाली ताहि मारि गृह आवा। देखि मोहि जियँ भेद बढ़ावा।।

मंत्रियों ने नगर को बिना स्वामी (राजा) का देखा तो मुझको बल पूर्वक राज्य दे दिया। वानरराज बालि उस राक्षस को मारकर घर आ गया। मुझे (राजसिंहासन पर) देखकर उसने हृदय में भेद बढ़ाया (बहुत ही विरोध माना)। (उसने समझा कि राज्य के लोभ से मैं ही गुफा के द्वार पर शिला रख आया था, जिससे वानरराज बालि बाहर न निकल सके और यहाँ आकर राजा बन बैठा)।

रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी। हरि लीन्हसि सर्बसु अरु नारी।।
ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला।।

उसने मुझे शत्रु के समान बहुत अधिक मारा और मेरा सर्वस्व एवं मेरी स्त्री को भी छीन लिया। हे कृपालु रघुवीर, मैं उसके भय से समस्त लोकों में बेहाल होकर फिरता रहा।

इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।।
सुन सेवक दुःख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला।।

वह श्राप के कारण यहाँ नहीं आता तो भी मैं मन में भयभीत रहता हूँ। सेवक का दुःख सुनकर दीनों पर दया करने वाले श्री रघुनाथ जी की दोनों विशाल भुजाएँ फड़क उठीं।

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान।।

(उन्होंने कहा) 'हे सुग्रीव, सुनो, मैं एक ही बाण से वानरराज बालि को मार डालूँगा। ब्रह्मा और रुद्र की शरण में जाने पर भी उसके प्राण न बचेंगे।'

जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी।।
निज दुःख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुःख रज मेरु समाना।।

जो लोग मित्र के दुःख से दुःखी नहीं होते, उन्हें देखने से ही बड़ा पाप लगता है। अपने पर्वत के समान दुःख को धूल के समान और मित्र के धूल के समान दुःख को सुमेरु (बड़े भारी पर्वत) के समान जाने।

जिन्ह कें असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई।।
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा।।
जिन्हें स्वभाव से ही ऐसी बुद्धि प्राप्त नहीं है, वह मूर्ख हठ करके क्यों किसी से मित्रता करते हैं? मित्र का धर्म है कि वह मित्र को बुरे मार्ग से रोककर अच्छे मार्ग पर चलावे। उसके गुण प्रकट करे और अवगुणों को छिपावे।

देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई।।
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा।।

देने लेने में मन में शंका न रखे। अपने बल के अनुसार सदा हित ही करता रहे। विपत्ति के समय तो सदा सौ गुना स्नेह करे। वेद कहते हैं कि वह संत, (श्रेष्ठ) मित्र के गुण (लक्षण) हैं।

आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई।।
जाकर चत अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई।।

जो सामने तो बना बनाकर कोमल वचन कहता है और पीठ पीछे बुराई करता है तथा मन में कुटिलता रखता है, हे भाई, (इस तरह) जिसका मन साँप की चाल के समान टेढ़ा है, ऐसे कुमित्र को तो त्यागने में ही भलाई है।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी।।
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरें।।

मूर्ख सेवक, कंजूस राजा, कुलटा स्त्री और कपटी मित्र, यह चारों शूल के समान पीड़ा देने वाले हैं। हे सखा, मेरे बल पर अब तुम चिंता छोड़ दो। मैं सब प्रकार से तुम्हारे काम आऊँगा (तुम्हारी सहायता करूँगा)।

कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा।।
दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए।।

सुग्रीव ने कहा, "हे रघुवीर, सुनिए, वानरराज बालि महान् बलवान् और अत्यंत रणधीर है।" फिर सुग्रीव ने श्री राम जी को दुंदुभि राक्षस की हड्डियाँ व ताल के वृक्ष दिखलाए। श्री रघुनाथजी ने उन्हें बिना ही परिश्रम के (सरलता से) ढहा दिया।
देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि वधब इन्ह भइ परतीती।।
बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा।।

श्री राम जी का अपरिमित बल देखकर सुग्रीव की प्रीति बढ़ गई और उन्हें विश्वास हो गया कि वह वानरराज बालि का वध अवश्य करेंगे। वह बार बार चरणों में सिर नवाने लगे। प्रभु को पहचानकर सुग्रीव मन में हर्षित हो रहे थे।

उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपाँ मन भयउ अलोला।।
सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई।।

जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब वह ये वचन बोले, "हे नाथ, आपकी कृपा से अब मेरा मन स्थिर हो गया। सुख, संपत्ति, परिवार और बड़ाई (बड़प्पन) सबको त्यागकर मैं आपकी सेवा ही करूँगा।"

ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक।।
सत्रु मित्र सुख दुःख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।।

क्योंकि आपके चरणों की आराधना करने वाले संत कहते हैं कि सब (सुख-संपत्ति आदि) राम भक्ति के विरोधी हैं। जगत् में जितने भी शत्रु-मित्र और सुख-दुःख (आदि द्वंद्व) हैं, सब के सब माया रचित हैं, परमार्थतः (वास्तव में) नहीं हैं।

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।
सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई।।

हे श्री राम जी, वानरराज बालि तो मेरा परम हितकारी है जिसकी कृपा से शोक का नाश करने वाले आप मुझे मिले और जिसके साथ अब स्वप्न में भी लड़ाई हो तो जागने पर उसे समझकर मन में संकोच होगा (कि स्वप्न में भी मैं उससे क्यों लड़ा)।"

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँति। सब तजि भजनु करौं दिन राती।।
सुनि बिराग संजुत कपि बानी। बोले बिहँसि रामु धनुपानी।।

हे प्रभो, अब तो इस प्रकार कृपा कीजिए कि सब छोड़कर दिन रात मैं आपका भजन ही करूँ। सुग्रीव की वैराग्ययुक्त वाणी सुनकर (उसके क्षणिक वैराग्य को देखकर) हाथ में धनुष धारण करने वाले श्री राम जी मुस्कुराकर बोले।

जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई।।
नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत।।

तुमने जो कुछ कहा है, वह सभी सत्य है, परंतु हे सखा, मेरा वचन मिथ्या नहीं होता (अर्थात् बालि मारा जाएगा और तुम्हें राज्य मिलेगा)। (काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि)

हे पक्षियों के राजा गरुड़,नट (मदारी) के बंदर की तरह श्री रामजी सब को नचाते हैं, वेद ऐसा कहते हैं।

लै सुग्रीव संग रघुनाथा। चले चाप सायक गहि हाथा।।
तब रघुपति सुग्रीव पठावा। गर्जेसि जाइ निकट बल पावा।।

तदनन्तर सुग्रीव को साथ लेकर और हाथों में धनुष बाण धारण करके श्री रघुनाथ जी चले। तब श्री रघुनाथ जी ने सुग्रीव को वानरराज बालि के पास भेजा। वह श्री राम जी का बल पाकर वानरराज बालि के निकट जाकर गरजा।

सुनत बालि क्रोधातुर धावा। गहि कर चरन नारि समुझावा।।
सुनु पति जिन्हहि मिलेउ सुग्रीवा। ते द्वौ बंधु तेज बल सींवा।।

वानरराज बालि सुनते ही क्रोध में भरकर वेग से दौड़ा। उसकी स्त्री तारा ने चरण पकड़ कर उसे समझाया कि हे नाथ, सुनिए, “सुग्रीव जिनसे मिले हैं वह दोनों भाई तेज और बल की सीमा हैं।

कोसलेस सुत लछिमन रामा। कालहु जीति सकहिं संग्रामा।।

वह कौशलाधीश दशरथ जी के पुत्र राम और लक्ष्मण संग्राम में काल को भी जीत सकते हैं।”

कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ।
जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।।

वानरराज बालि ने कहा, “ हे भीरु (डरपोक) प्रिये सुनो, श्री रघुनाथ जी समदर्शी हैं। जो कदाचित् कौशलाधीश मुझे मारेंगे,तो मैं सनाथ हो जाऊँगा (परम पद पा जाऊँगा)।”

अस कहि चला महा अभिमानी। तृन समान सुग्रीवहि जानी।।
भिरे उभौ बाली अति तर्जा। मुठिका मारि महाधुनि गर्जा।।

ऐसा कहकर वह महान् अभिमानी वानरराज बालि सुग्रीव को तिनके के समान जानकर चला। दोनों भिड़ गए। वानरराज बालि ने सुग्रीव को बहुत धमकाया और घूँसा मारकर बड़े जोर से गरजा।

तब सुग्रीव बिकल होइ भागा। मुष्टि प्रहार बज्र सम लागा।।
मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला।।

तब सुग्रीव व्याकुल होकर भागा। घूँसे की चोट उसे वज्र के समान लगी (सुग्रीव ने आकर कहा) 'हे कृपालु रघुवी,! मैंने आपसे पहले ही कहा था कि वानरराज बालि मेरा भाई नहीं है, काल है।'

एक रूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ।।
कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पीरा।।

(श्री राम जी ने कहा) 'तुम दोनों भाईयों का एक सा ही रूप है। इसी भ्रम से मैंने उसको नहीं मारा। फिर श्री राम जी ने सुग्रीव के शरीर को हाथ से स्पर्श किया, जिससे उसका शरीर वज्र के समान हो गया और सारी पीड़ा जाती रही।

मेली कंठ सुमन कै माला। पठवा पुनि बल देइ बिसाला।।
पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई।।

तब श्री राम जी ने सुग्रीव के गले में फूलों की माला डाल दी और फिर उसे बड़ा भारी बल देकर भेजा। दोनों में पुनः अनेक प्रकार से युद्ध हुआ। श्री रघुनाथ जी वृक्ष की आड़ से देख रहे थे।

बहु छल बल सुग्रीव कर हियँ हारा भय मानि।
मारा बालि राम तब हृदय माझ सर तानि।।

सुग्रीव ने बहुत से छल बल किए, किंतु (अंत में) भय मान कर हृदय से हार गया। तब श्री राम जी ने तान कर वानरराज बालि के हृदय में बाण मारा।

परा बिकल महि सर के लागें। पुनि उठि बैठ देखि प्रभु आगे।।
स्याम गात सिर जटा बनाएँ। अरुन नयन सर चाप चढ़ाएँ।।

बाण के लगते ही वानरराज बालि व्याकुल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, किंतु प्रभु श्री रामचंद्र जी को आगे देखकर वह फिर उठ बैठा। भगवान् का श्याम शरीर है, सिर पर जटा बनाए हैं, लाल नेत्र हैं, बाण लिए हैं और धनुष चढ़ाए हैं।

पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जन्म माना प्रभु चीन्हा।।
हृदयँ प्रीति मुख बचन कठोरा। बोला चितइ राम की ओरा।।

वानरराज बालि ने बार बार भगवान् की ओर देखकर चित्त को उनके चरणों में लगा दिया। प्रभु को पहचानकर उसने अपना जन्म सफल माना। उसके हृदय में प्रीति थी पर मुख में कठोर वचन थे। वह श्री राम जी की ओर देखकर बोला।

धर्म हेतु अवतरेहु गोसाईं। मारेहु मोहि ब्याध की नाईं।।
मैं बैरी सुग्रीव पिआरा। अवगुन कवन नाथ मोहि मारा।।

'हे गोसाईं, आपने धर्म की रक्षा के लिए अवतार लिया है और मुझे व्याध की तरह (छिपकर) मारा? मैं बैरी और सुग्रीव प्यारा? हे नाथ, किस दोष से आपने मुझे मारा?'

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी।।
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई।।

(श्री रामजी ने कहा) 'मूर्ख, सुन, छोटे भाई की स्त्री (सुग्रीव की पत्नी रूमा), बहन , पुत्र की स्त्री और कन्या, यह चारों पुत्री समान हैं। इनको जो कोई बुरी दृष्टि से देखता है, उसे मारने में कुछ भी पाप नहीं होता।'

मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना।।
मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी।।

हे मूढ़, तुझे अत्यंत अभिमान है। तूने अपनी स्त्री की सीख पर भी कान (ध्यान) नहीं दिया। सुग्रीव को मेरी भुजाओं के बल का आश्रित जानकर भी अरे अधम अभिमानी, तूने उसको मारना चाहा।

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अंतकाल गति तोरि।।

(वानरराज बालि ने कहा) ‘हे श्री राम जी, सुनिए, स्वामी (आप) से मेरी चतुराई नहीं चल सकी। हे प्रभो, अंतकाल में आपकी गति (शरण) पाकर मैं अब भी पापी ही रहा?

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पानी।।
अचल करौं तनु राखहु प्राना। बालि कहा सुनु कृपानिधाना।।

वानरराज बालि की अत्यंत कोमल वाणी सुनकर श्री राम जी ने उसके सिर को अपने हाथ से स्पर्श किया (और कहा) मैं तुम्हारे शरीर को अचल कर दूँ। तुम प्राणों को रखो। वानरराज बालि ने कहा, “हे कृपानिधान! सुनिए।”

जन्म जन्म मुनि जतनु कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।।
जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अबिनासी।।

“मुनिगण जन्म जन्म में (प्रत्येक जन्म में) (अनेकों प्रकार का) साधन करते रहते हैं। फिर भी अंतकाल में उन्हें 'राम' नहीं याद आता (उनके मुख से राम नाम नहीं निकलता)। जिनके नाम के बल से शंकर जी काशी में सबको समान रूप से अविनाशिनी गति (मुक्ति) देते हैं।”

मम लोचन गोचर सोई आवा। बहुरि कि प्रभु अस बनिहि बनावा।।

“वह श्री रामजी स्वयं मेरे नेत्रों के सामने आ गए हैं। हे प्रभो, ऐसा संयोग क्या फिर कभी बन पड़ेगा।”

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।।
मोहि जानि अति अभिमान बस प्रभु कहेउ राखु सरीरही।
अस कवन सठ हठि काटि सुरतरु बारि करिहि बबूरही।।

“श्रुतियाँ 'नेति नेति' कहकर निरंतर जिनका गुणगान करती रहती हैं तथा प्राण और मन को जीतकर एवं इंद्रियों को (विषयों के रस से सर्वथा) नीरस बनाकर मुनिगण ध्यान में जिनकी कभी कदाचित झलक पाते हैं, वह ही प्रभु (आप) साक्षात् मेरे सामने प्रकट हैं। आपने मुझे अत्यंत अभिमानवश जानकर यह कहा कि तुम शरीर रख लो, परंतु ऐसा मूर्ख कौन होगा जो हठ पूर्वक कल्प वृक्ष को काटकर उससे बबूर के बाड़ लगाएगा (अर्थात् पूर्ण काम बना देने वाले आपको छोड़कर आपसे इस नश्वर शरीर की रक्षा चाहेगा?)”

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहि जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ।।
यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिये।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अंगद कीजिये।।

“हे नाथ! अब मुझ पर दया दृष्टि कीजिए और मैं जो वर माँगता हूँ उसे दीजिए। मैं कर्मवश जिस योनि में जन्म लूँ, वहीं श्री राम जी (आप) के चरणों में प्रेम करूँ। हे कल्याणप्रद प्रभो, यह मेरा पुत्र अंगद विनय और बल में मेरे ही समान है। इसे स्वीकार कीजिए और हे देवता और मनुष्यों के नाथ, बाँह पकड़कर इसे अपना दास बनाइए।”

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।।

श्री राम जी के चरणों में दृढ़ प्रीति करके वानरराज बालि ने शरीर को वैसे ही (आसानी से) त्याग दिया जैसे हाथी अपने गले से फूलों की माला का गिरना न जाने।

राम बालि निज धाम पठावा। नगर लोग सब व्याकुल धावा।।
नाना बिधि बिलाप कर तारा। छूटे केस न देह सँभारा।।

श्री रामचंद्र जी ने वानरराज बालि को अपने परम धाम भेज दिया। नगर के सब लोग व्याकुल होकर दौड़े। वानरराज बालि की स्त्री तारा अनेकों प्रकार से विलाप करने लगी। उसके बाल बिखरे हुए हैं और देह की सँभाल नहीं है।

पति बालि के साकेत धाम पर शोक और सुग्रीव से विवाह

प्रभु श्री राम ने वानरराज बालि को मोक्ष प्रदान किया। इस समाचार के पाते ही उनकी पत्नी तारा शोकमय हो गईं। उनके शोक, भगवान् श्री राम की उनको शिक्षा एवं सम्राट सुग्रीव से पुनर्विवाह की कथा को गोस्वामी तुलसी दास जी ने श्री रामचरितमानस में बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है।

तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया।।
छिति जल पावक गगन समीरा। पञ्च रचित अति अधम सरीरा।।

तारा को व्याकुल देखकर श्री रघुनाथ जी ने उसे ज्ञान दिया और उसकी माया (अज्ञान) हर ली। (उन्होंने कहा) 'पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु, इन पाँच तत्वों से यह अत्यंत अधम शरीर रचा गया है।'

प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।।
उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर मागी।।

'वह शरीर तो प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने सोया हुआ है, जीव तो नित्य है। फिर तुम किसके लिए रो रही हो?' जब ज्ञान उत्पन्न हो गया, तब वह भगवान् के चरणों लगी और उसने परम भक्ति का वर माँग लिया।

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं।।
तब सुग्रीवहि आयसु दीन्हा। मृतक कर्म बिधिवत सब कीन्हा।।

(शिवजी कहते हैं) 'हे उमा, स्वामी श्री राम जी सबको कठपुतली की तरह नचाते हैं। तदनन्तर श्री रामजी ने सुग्रीव को आज्ञा दी और सुग्रीव ने विधिपूर्वक वानरराज बालि का सब मृतक कर्म किया।

राम कहा अनुजहि समुझाई। राज देहु सुग्रीवहि जाई।।
रघुपति चरन नाइ करि माथा। चले सकल प्रेरित रघुनाथा।।

तब श्री रामचंद्र जी ने छोटे भाई लक्ष्मण को समझाकर कहा कि तुम जाकर सुग्रीव को राज्य दे दो। श्री रघुनाथजी की प्रेरणा (आज्ञा) से सब लोग श्री रघुनाथजी के चरणों में मस्तक नवाकर चले।

लछिमन तुरत बोलाए पुरजन बिप्र समाज।
राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ अंगद कहँ जुबराज।।

लक्ष्मण जी ने तुरंत ही सब नगरवासियों को और ब्राह्मणों के समाज को बुला लिया और (उनके सामने) सुग्रीव को राज्य और अंगद को युवराज पद दिया।

उमा राम सम हत जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं।।
सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीति।।

हे पार्वती! जगत में श्री राम जी के समान हित करने वाला गुरु, पिता, माता, बंधु और स्वामी कोई नहीं है। देवता, मनुष्य और मुनि सबकी यह रीति है कि स्वार्थ के लिए ही सब प्रीति करते हैं।

बालि त्रास ब्याकुल दिन राती। तन बहु ब्रन चिंताँ जर छाती।।
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपि राऊ। अति कृपाल रघुबीर सुभाऊ।।

जो सुग्रीव दिन रात बालि के भय से व्याकुल रहता था, जिसके शरीर में बहुत से घाव हो गए थे और जिसकी छाती चिंता के मारे जला करती थी, उसी सुग्रीव को उन्होंने वानरों का राजा बना दिया। श्री रामचंद्र जी का स्वभाव अत्यंत ही कृपालु है।

जानतहूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपति जाल नर परहीं।।
पुनि सुग्रीवहि लीन्ह बोलाई। बहु प्रकार नृपनीति सिखाई।।

जो लोग जानते हुए भी ऐसे प्रभु को त्याग देते हैं, वह क्यों न विपत्ति के जाल में फँसें? फिर श्री राम जी ने सुग्रीव को बुला लिया और बहुत प्रकार से उन्हें राजनीति की शिक्षा दी।

कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा। पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।।
गत ग्रीषम बरषा रितु आई। रहिहउँ निकट सैल पर छाई।।

फिर प्रभु ने कहा, 'हे वानरपति सुग्रीव, सुनो, मैं चौदह वर्ष तक गाँव (बस्ती) में नहीं जाऊँगा। ग्रीष्मऋतु बीतकर वर्षाऋतु आ गई। अतः मैं यहाँ पास ही पर्वत पर टिक रहूँगा।'

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदयँ धरेहु मम काजू।।
जब सुग्रीव भवन फिरि आए। रामु प्रबरषन गिरि पर छाए।।

तुम अंगद सहित राज्य करो। मेरे काम का हृदय में सदा ध्यान रखना। तदनन्तर जब सुग्रीव जी घर लौट आए, तब श्री रामजी प्रवर्षण पर्वत पर जा टिके।

भगवान् श्री राम के कहने पर एवं पुत्र अंगद के भविष्य को ध्यान में रखते हुए और उसे पिता की छाया से वंचित न करने की चाह से वह अपने ही पति के भाई सुग्रीव की सहगामिनी भी बन गई।

सम्राट सुग्रीव को उचित परामर्श

सुग्रीव की पत्नी के रूप में भी उनका महान चरित्र देखिये। जब राज्याभिषेक के एक मास पश्चात भी सुग्रीव भगवान् श्री राम के पास वापस ऋष्यमूक पर्वत पर नहीं आए और माँ सीता की खोज विसार दी, तब भगवान् श्री राम ने लक्ष्मण जी को सुग्रीव को लाने भेजा। श्री लक्ष्मण किष्किंधा के अन्त:पुर में अचानक धड़धड़ाते हुए क्रोध में प्रविष्ट हुए।। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि वह सम्राट सुग्रीव का वध कर देंगे। ऐसी संवेदनशील परिस्थिति में सुग्रीव ने तारा को उनके समीप उन्हें शांत कराने भेजा। तारा की सूझ बूझ और विद्वता ने श्री लक्ष्मण को शांत किया। उन्होंने कोमलता से शेषनाग अवतार श्री लक्ष्मण जी को अवगत कराया कि वह कामावेग की असीमित शक्ति से अज्ञात हैं, जो कि बड़े से बड़े महर्षियों को भी डिगा देती है। सुग्रीव तो एक किंचित वानर मात्र है। तारा निर्भीक होकर कहती रही कि यह भर्त्सना न्यायोचित नहीं है और उन्होंने विस्तार से बताया कि सेना को एकत्रित करने का कार्य सुचारु रूप से चल रहा है, आप क्रोधित न हों। इस तरह उन्होंने अपने पति के प्राणों की रक्षा की।

इसका विवरण गोस्वामी तुलसी दास जी ने श्री रामचरितमानस में निम्न प्रकार किया है।

बरषा गत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई।।
एक बार कैसेहुँ सुधि जानौं। कालुह जीति निमिष महुँ आनौं।।

वर्षा बीत गई, निर्मल शरद् ऋतु आ गई, परंतु हे तात, सीता की कोई खबर नहीं मिली। एक बार कैसे भी पता पाऊँ तो काल को भी जीतकर पल भर में जानकी को ले आऊँ।

कतहुँ रहउ जौं जीवति होई। तात जतन करि आनउँ सोई।।
सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।।

कहीं भी रहे, यदि जीती होगी तो हे तात, यत्न करके मैं उसे अवश्य लाऊँगा। राज्य, कोष, नगर और स्त्री पा गया, इसलिए सुग्रीव ने भी मेरी सुध भुला दी।

जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली।।
जासु कृपाँ छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा।।

जिस बाण से मैंने वानरराज बालि को मारा था, उसी बाण से कल उस मूढ़ को मारूँ। (शि वजी कहते हैं) 'हे उमा, जिनकी कृपा से मद और मोह छूट जाते हैं उनको कहीं स्वप्न में भी क्रोध हो सकता है? (यह तो लीला मात्र है)।'

जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी।।
लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना। धनुष चढ़ाई गहे कर बाना।।

ज्ञानी मुनि जिन्होंने श्री रघुनाथ जी के चरणों में प्रीति मान ली है (जोड़ ली है), वह ही इस चरित्र (लीला रहस्य) को जानते हैं। लक्ष्मण जी ने जब प्रभु को क्रोध युक्त जाना, तब उन्होंने धनुष चढ़ाकर बाण हाथ में ले लिए।

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।।

तब दया की सीमा श्री रघुनाथ जी ने छोटे भाई लक्ष्मण जी को समझाया कि हे तात, सखा सुग्रीव को केवल भय दिखलाकर ले आओ (उसे मारने की बात नहीं है)।

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा।।
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा।।

यहाँ (किष्किन्धा नगरी में) पवनकुमार श्री हनुमान् जी ने विचार किया कि सुग्रीव ने श्री रामजी के कार्य को भुला दिया। उन्होंने सुग्रीव के पास जाकर चरणों में सिर नवाया। (साम, दाम, दंड, भेद) चारों प्रकार की नीति कहकर उन्हें समझाया।

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना। बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।।
अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा।।

हनुमान् जी के वचन सुनकर सुग्रीव ने बहुत ही भय माना। (और कहा) विषयों ने मेरे ज्ञान को हर लिया। अब हे पवनसुत, जहाँ तहाँ वानरों के यूथ रहते हैं, वहाँ दूतों के समूहों को भेजो।

कहहु पाख महुँ आव न जोई। मोरें कर ता कर वध होई।।
तब हनुमंत बोलाए दूता। सब कर करि सनमान बहूता।।

और कहला दो कि एक पखवाड़े में (पंद्रह दिनों में) जो न आ जाएगा, उसका मेरे हाथों वध होगा। तब हनुमान् जी ने दूतों को बुलाया और सबका बहुत सम्मान करके-

भय अरु प्रीति नीति देखराई। चले सकल चरनन्हि सिर नाई।।
एहि अवसर लछिमन पुर आए। क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए।।

सबको भय, प्रीति और नीति दिखलाई। सब बंदर चरणों में सिर नवाकर चले। इसी समय लक्ष्मणजी नगर में आए। उनका क्रोध देखकर बंदर जहाँ तहाँ भागे।

धनुष चढ़ाइ कहा तब जारि करउँ पुर छार।
ब्याकुल नगर देखि तब आयउ बालिकुमार।।

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने धनुष चढ़ाकर कहा कि नगर को जलाकर अभी राख कर दूँगा। तब नगर भर को व्याकुल देखकर वानरराज बालिपुत्र अंगद जी उनके पास आए।

चर नाइ सिरु बिनती कीन्ही। लछिमन अभय बाँह तेहि दीन्ही।।
क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भयँ अकुलाना।।

उन्होंने अनेक प्रकार से उनकी विनती की। तब श्री लक्ष्मण जी ने उन्हें अभय दान दिया। श्री लक्ष्मण जी को क्रोध में जान सुग्रीव डर गए और हनुमान जी से कहने लगे।

सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा।।
तारा सहित जाइ हनुमाना। चरन बंदि प्रभु सुजस बखाना।।

हे हनुमान् सुनो, तुम तारा को साथ ले जाकर विनती करके राजकुमार को समझाओ (समझा बुझाकर शांत करो)। हनुमान्जी ने तारा सहित जाकर लक्ष्मणजी के चरणों की वंदना की और प्रभु के सुंदर यश का बखान किया।

करि बिनती मंदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए।।
तब कपीस चरनन्हि सिरु नावा। गहि भुज लछिमन कंठ लगावा।।

वह विनती करके उन्हें महल में ले आए तथा चरणों को धोकर उन्हें पलँग पर बैठाया। तब वानरराज सुग्रीव ने उनके चरणों में सिर नवाया और लक्ष्मण जी ने हाथ पकड़कर उनको गले से लगा लिया।

नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं।।
सुनत बिनीत बचन सुख पावा। लछिमन तेहि बहु बिधि समुझावा।।

(सुग्रीव ने कहा, ' हे नाथ, विषय के समान और कोई मद नहीं है। यह मुनियों के मन में भी क्षण मात्र में मोह उत्पन्न कर देता है (फिर मैं तो विषयी जीव ही ठहरा)। सुग्रीव के विनय युक्त वचन सुनकर लक्ष्मण जी ने सुख पाया और उनको बहुत प्रकार से समझाया।

पवन तनय सब कथा सुनाई। जेहि बिधि गए दूत समुदाई।।

तब पवनसुत हनुमान् जी ने जिस प्रकार सब दिशाओं में दूतों के समूह गए थे वह सब हाल सुनाया।

हरषि चले सुग्रीव तब अंगदादि कपि साथ।
रामानुज आगें करि आए जहँ रघुनाथ।।

तब अंगद आदि वानरों को साथ लेकर और श्री राम जी के छोटे भाई लक्ष्मण जी को आगे करके (अर्थात् उनके पीछे पीछे) सुग्रीव हर्षित होकर चले, और जहाँ रघुनाथजी थे, वहाँ आए।

नाइ चरन सिरु कह कर जोरी। नाथ मोहि कछु नाहिन खोरी।।
अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।।

श्री रघुनाथ जी के चरणों में सिर नवाकर हाथ जोड़कर सुग्रीव ने कहा, 'हे नाथ, मेरा कुछ भी दोष नहीं है। हे देव, आपकी माया अत्यंत ही प्रबल है। आप जब दया करते हैं, हे राम, तभी यह छूटती है।

बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी।।
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।

हे स्वामी, देवता, मनुष्य और मुनि सभी विषयों के वश में हैं। फिर मैं तो पामर पशु और पशुओं में भी अत्यंत कामी बंदर हूँ। स्त्री का नयन बाण किसको नहीं लगा। यह भयंकर क्रोध रूपी अँधेरी रात में भी जागता रहता है (क्रोधान्ध नहीं होता)।

लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई।।

लोभ की फाँसी से किसने अपना गला नहीं बँधाया। हे रघुनाथजी, जिसने ऐसा नहीं किया, वह मनुष्य आप ही के समान है। यह गुण साधन से नहीं प्राप्त होते। आपकी कृपा से ही कोई कोई इन्हें पाते हैं।

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।।
अब सोइ जतनु करह मन लाई। जेहि बिधि सीता कै सुधि पाई।।

तब श्री रघुनाथजी मुस्कुराकर बोले, 'हे भाई, तुम मुझे भरत के समान प्रिय हो। अब मन लगाकर वही उपाय करो जिस उपाय से सीता का समाचार मिले।'

एहि बिधि होत बतकही आए बानर जूथ।
नाना बरन सकल दिसि देखिअ कीस बरूथ।।

इस प्रकार बातचीत हो रही थी कि वानरों के यूथ (झुंड) आ गए। अनेक रंगों के वानरों के दल सब दिशाओं में दिखाई देने लगे।

इन कारणों से तारा एक वह महान पात्र हैं जिन्होंने अपने पति वानर राज बालि को समय रहते चेताया। उन्होंने उनकी राय न मानने पर अन्तत: पर्याप्त परिणाम भुगते भी। फिर अपने पति की मृत्यु के बाद पति के भाई तथा शत्रु को पति रूप में स्वीकार भी किया ताकि वे अपने राज्य को सुरक्षित रख सकें और अयोध्या के मित्र राष्ट्र बनकर रहें, तथा उनका राजकार्यों में अधिकार पूर्ववत बना रहे। इस सूझ बूझ, पतिव्रत्य, भगवत्प्रेम, अहंकारशून्य, विदूषी, दूरंदेशी, आत्मविश्वासी एवं दिव्यदृष्टी के कारण महर्षि वेद व्यास जी ने महारानी तारा को द्वितीय पञ्चकन्या के रूप में पूजा है।

तृतीय पञ्चकन्या – मंदोदरी

जन्म एवं विवाह

महर्षि वेद व्यास जी के अनुसार महारानी मंदोदरी तृतीय पञ्चकन्या के रूप में पूजनीय हैं। महारानी मंदोदरी असुर सम्राट रावण की धर्मपत्नी थीं। महारानी तारा की भांति महारानी मंदोदरी ने अपने पति रावण के हर बुरे कदम पर खेद प्रकट किया और उसे हर बुरा काम करने से रोकने का प्रयास किया। महारानी मंदोदरी को एक ऐसी स्त्री के रूप में जाना जाता है जो सदैव सत्य के मार्ग पर चलीं।

पौराणिक कथाओं के अनुसार एक बार मधुरा नामक एक अप्सरा कैलाश पर्वत पर पहुंची। देवी पार्वती को वहां ना पाकर वह भगवान शिव को आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगी। जब देवी पार्वती वहां पहुंचीं तो भगवान शिव की देह की भस्म को मधुरा के शरीर पर देखकर वह अत्यंत क्रोधित हो गईं और क्रोध में आकर उन्होंने मधुरा को मेढ़क बनने का श्राप दे दिया। मधुरा के बहुत विनय करने पर एवं अपना अपराध स्वीकार करने पर दयामयी माँ पार्वती ने मधुरा को क्षमा करते हुए कहा कि श्राप तो वापस नहीं लिया जा सकता और उसके कृत्य का उसको कुछ तो परिणाम भोगना ही पड़ेगा लेकिन केवल १२ वर्षों तक ही वह मेढ़क के रूप में एक कुएं में रहेगी। इस प्रकार मधुरा का निवास अगले १२ वर्षों के लिए यह एक कुँआ हो गया।

उसी समय असुरों के सम्राट मय दानव हुए और उनकी अप्सरा पत्नी हेमा हुईं। कथा के अनुसार असुरों के देवता मयासुर और उनकी अप्सरा पत्नी हेमा के दो पुत्र थे लेकिन वह चाहते थे कि उनकी एक पुत्री भी हो। इसी इच्छा को पूर्ण करने के लिए उन दोनों ने भगवान् शिव शंकर की कठोर तपस्या करनी प्रारम्भ की ताकि ईश्वर उनसे प्रसन्न होकर एक पुत्री दे दें। संयोग कहिये या भगवान् की इच्छा, उनकी तपस्या स्थली इस कुँए के समीप ही थी। १२ वर्षों तक उन्होंने शिव शंकर भगवान् की घोर तपस्या की। इसी बीच मधुरा की कठोर तपस्या के भी १२ वर्ष भी पूर्ण हो गए।

जैसे ही १२ वर्ष पूर्ण हुए मधुरा अपने स्वरूप में आ गई और कुएं से बाहर आने के लिए वह मदद के लिए पुकारने लगी। हेमा और मयासुर वहीं तप में लीन थे अतः मधुरा का स्वर सुनकर दोनों कुएं के पास आए और उसे बचाया। उन दोनों ने मधुरा को गोद ले लिया और उसका नाम रखा मंदोदरी।

मंदोदरी को अपने पूर्व जन्म की पूर्ण स्मृति थी। वह भगवान शिव शंकर और माँ पार्वती की अनन्य भक्त रहीं। पौराणिक कथाओं में यह कई बार आया है कि वह प्रतिदिन शिव पार्वती मंदिर अवश्य जाती थी।

एक दिन रावण मायासुर से मिलने मायासुर की राजधानी मंडोर पहुंचा। वहां मंदोदरी को देखते ही रावण उसपर मोहित हो गया और मायासुर से मंदोदरी का हाथ मांग लिया। रावण का प्रताप और शौर्य देख कर मायासुर तुरंत ही उससे मंदोदरी का विवाह करने को तैयार हो गया। ऐसी मान्यता है कि मंदोदरी ह्रदय से रावण से विवाह नहीं करना चाहती थीं क्योंकि उनको रावण के दुष्ट एवं अनाचारी होने का पता था। केवल अपनी पिता की बात रखते हुए उन्होंने रावण से विवाह करना स्वीकार किया। रावण और मंदोदरी का विवाह पूरे विधि विधान के साथ मंडोर में हुआ।

पिता महर्षि विश्रवा ने रावण को लंकापुरी भेंट स्वरुप दी। लंकापुरी को रावण ने अपनी राजधानी बनाया और अपने साम्राज्य का विस्तार करने लगा। अपने प्रताप से उसने अपना साम्राज्य तीनों लोकों तक बढ़ा लिया।

कुछ पौराणिक कथाएं लंकद्वीप के निर्माण का कारण माँ पार्वती को बताती हैं जिसको भगवान् शिव शंकर ने महर्षि विश्रवा को दान में दे दिया था।

एक बार की बात है देवी पार्वती जी का मन हुआ कि उनके पास भी एक महल होना चाहिए। उन्हें अनुभूत हुआ कि सभी देव अपने महलों में रहते है तो देवों के देव महादेव को भी महल में रहना चाहिए। यह सोचकर देवी पार्वती महादेव से हठ करने लगी कि आपको भी महल में रहना चाहिए और आपका महल इंद्र के महल से उत्तम और भव्य होना चाहिए।

महादेव ने देवी पार्वती को समझाने का बहुत प्रयत्न किया। परन्तु देवी पार्वती ने उनकी एक न सुनी और वह हठ करने लगी कि उन्हें ऐसा महल चाहिए जो तीनों लोकों में कहीं न हो। महादेव ने देवी पार्वती को समझाया कि हम योगी हैं, हम अधिक समय तक महल में नहीं रह पाएंगे। महल में रहने के बड़े नियम विधान होते हैं। हमारे लिए महल उचित नहीं है।

देवी पार्वती पर भगवान शिव की बातों का कोई प्रभाव नहीं हो रहा था। वह अपने हठ पर टिकी रही। अंत में हारकर भगवान शिव ने विश्वकर्मा जी को बुलाया। उन्होंने विश्वकर्मा जी को बुला कर कहा कि वह एक ऐसा महल बनाए जिसकी सुंदरता की बराबरी का महल त्रिभुवन में कहीं न हो, वह महल एक द्वीप पर हो।

भगवान शिव के कथन पर विश्वकर्मा एक ऐसी जगह की खोज करने लगे जो भगवान शिव की आज्ञानुसार हो। भ्रमण करते हुए उन्हें एक ऐसी जगह दिखी जो चारों ओर से पानी से ढकी हुई थी। बीच में तीन सुन्दर पर्वत दिख रहे थे। उस पर्वत पर तरह तरह के फूल और वनस्पति थे। यह लंका थी। विश्वकर्मा जी ने उस स्थान के बारे में देवी पार्वती को बताया। उस स्थान की सुंदरता के बारे में सुनकर देवी पार्वती बहुत प्रसन्न हुईं तथा उन्होंने विश्वकर्मा जी को एक विशाल नगर के ही निर्माण का आदेश दे दिया। विश्वकर्मा जी ने अपनी कला का परिचय देते हुए वहां सोने की अद्भुत नगरी बना दी।

सोने का महल बनने के बाद पार्वती जी ने गृह प्रवेश को मुहूर्त निकलवाया। महर्षि विश्रवा को आचार्य नियुक्त किया गया। सभी देवताओं और महर्षियों को निमंत्रण भेजा गया। सभी देवताओं ने महल की बहुत प्रशंसा की।

गृह प्रवेश के बाद महादेव ने आचार्य से दक्षिणा मांगने को कहा। महादेव ने अपनी माया से विश्रवा के मन में उस नगरी के लिए लालच भर दिया था। महादेव की माया के कारण आचार्य ने दक्षिणा में लंका को ही मांग लिया। लंका दान में देने के बाद पार्वती जी को विश्रवा की इस धृष्टता पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने क्रोध में आकर उन्हें श्राप दे दिया कि तूने महादेव की सरलता का लाभ उठाकर मेरे प्रिय महल को हड़प लिया है। महादेव का ही अंश एक दिन उस महल को जला कर भस्म कर देगा और उसके साथ ही तुम्हारे कुल का विनाश आरंभ हो जाएगा। इसी श्राप के कारण शिव के अवतार हनुमान जी ने लंका जलाई और विश्रवा के पुत्र रावण, कुंभकर्ण और कुल का विनाश हुआ। श्री राम की शरण में होने से विभीषण बच गए।

महाकवि पंडित सोमनाथ शर्मा जी ने इस कथा को सुन्दर काव्य का रूप दिया है।

डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी। जय जय भोले भंडारी।।
शिव शंकर महादेव त्रिलोचन, कोई कहे त्रिपुरारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

शिव हो कर के ही तो तुमने इस जग का कल्याण किया।
अमृत के बदले में खुद ही तुमने विषपान किया।।
दूज का चंद्र बिठाया माथे गंगा की जटाओं में।
पर्वत राज की पुत्री के संग विचरे सदा गुफ़ाओं में।।
सचमुच हो कैलाशपति नहीं कोई चार दीवारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

तेरे ही परिवार की उपमा भूमिजन ऐसे गाते हैं।
सिंह बैल पशु होकर हम को प्रेम का पाठ पढ़ाते हैं।।
जहरीले सब साँप और बिच्छू अंग अंग लिपटाये हैं।
जैसे अपने शत्रु भी सब तुमने गले लगाये हैं।।
घोर साँप बेबस हो देखें चूहे की सरदारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

न कोई पदवी का लालच मान और अपमान है क्या।
सुख दुःख दोनों सदा बराबर घर भी क्या शमशान भी क्या।।
खप्पर डमरू सिंहनाद त्रिशूल ही तेरे भूषण हैं।
उनको तुमने गले लगाया जो इस जग के दूषण हैं।।
तुझको नाथ त्रिलोकी पूजें कह कर के त्रिपुरारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

अजर अमर हैं पार्वती शिव और कैलाश पे रहते हैं।
आओ उनके जीवन का हम सुंदर किस्सा कहते हैं।।
बैठे बैठे उमा ने एक दिन मन में निश्चय ठान लिया।
शिव जी की आज्ञा लेकर लक्ष्मी के घर प्रस्थान किया।।
शंकर ने चाहा भी रोकना किन्तु मन में आया है।

प्रभु इच्छा बिन हिले न पत्ता ये उन ही की माया है।।
मन ही है बेकार में जो संकल्प विकल्प बनाता है।
जिधर चाहता है मन उधर ये प्राणी दौड़ के जाता है।।
मन सब को भटकाये जग में क्या नर और क्या नारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

पार्वती चल पड़ी वहाँ से मन में हर्ष हुआ भारी।
लक्ष्मी के महलों में मेरा स्वागत होगा सुखकारी।।
अकस्मात मिलते ही सूचना मुझे सामने पायेंगी।
अपने आसन से उठ मुझ को दौड़ के गले लगायेंगी।।
हाथ पकड़ कर बर जोरी मुझे आसन पर बिठलायेंगी।
धूप दीप नैवद्य से फिर मेरा सम्मान बढ़ायेंगी।।
पर जो सोचा पार्वती ने हुआ उससे बिल्कुल उलटा।
लक्ष्मी ने घर आईं उमा से पानी तक भी न पूछा।।
उलटा अपना राजभवन उसको दिखलाती फिरती थी।
नौकर चाकर धन वैभव पर वो इठलाती फिरती थी।।
अगर मिली भी रूखे मन से वो अभिमान की मारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

पार्वती से बोली वो जिसको त्रिपुरारी कहते हैं।
कहाँ है तेरा पतिदेव सब जिसे भिखारी कहते हैं।।
चिता और त्रिशूल फ़ावड़ी फ़टी हुई मृगछाला है।
ऐसी ही जायदाद को ले के कहाँ पे डेरा डाला है।।
पार्वती ने सुना तो उसकी क्रोध ज्वाला भड़क उठी।
होंठ धधकते थे दोनों और बीच में जिह्वा भड़क उठी।।
बोली उमा कि तुमने चाहे मेरा न सम्मान किया।
बिन ही कारण मेरे पति का तुमने है अपमान किया।।
उन्हें भिखारी कहते हुए कुछ तुम को आती लाज नहीं।
सच ये है कि तेरे पति को भीख बिना कोई काज नहीं।।
वही भिखारी बन के राजा शिवि के यहाँ गया होगा।
या फिर बामन बन के राजा बलि के यहाँ गया होगा।।

जहाँ भी देखा उसने वहीं पर अपनी झोली टाँगी थी।
महर्षि दधिचि से हड्डियों तक की उसने भिक्षा माँगी थी।।
शंकर को तो जग वाले कहते हैं भोले भंडारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

पार्वती ने लक्ष्मी को यूँ जली और कटी सुनाई थी।
फिर भी वो बोझिल मन से कैलाश लौट के आई थी।।
अन्तर्यामी ने पूछा क्यों चेहरा ये उदास हुआ।
सब बतलाया कैसे लक्ष्मी के घर उपहास हुआ।।
बोली आज से अन्न जल को बिल्कुल नहीं हाथ लगाऊँगी।
भूखी प्यासी रह कर के मैं अपने प्राण गवाऊँगी।।
मेरा जीवन चाहते हैं फिर मेरा कहना भी कीजे।
जैसा मैं चाहती हूँ वैसा महल मुझे बनवा दीजै।।
महल बनेगा गृह प्रवेश पर लक्ष्मी को बुलवाना है।
मेरी अंतिम इच्छा है उसको नीचा दिखलाना है।।
उससे बदला लूँगी मैं देखेगी दुनिया सारी।।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

शंकर बोले पार्वती से मन पर बोझ न लाओ तुम।
भूल जाओ सब कड़वी बातें और मन शांत बनाओ तुम।।
मान और अपमान है क्या बस यूँ ही समझा जाता है।
दुखी वही होता है जो ऊँचे से नीचे आता है।।
उसे सदा ही डर रहता है जो ऊँचा चढ़ जायेगा।
जो बैठा है धरती पर उसे नीचे कौन बिठायेगा।।
इसीलिये हमने धरती पर आसन सदा बिछाया है।
मान और अपमान से हट कर आनंद खूब उठाया है।।
मेरी मानो गुस्सा छोड़ो इस में है सुख भारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

पार्वती ने ज़िद न छोड़ी, रोना धोना शुरु किया।
शंकर ने विश्वकर्मा को तब भेज संदेशा बुला लिया।।
विश्वकर्मा से शम्भु बोले तुम इसका कष्ट मिटा दीजै।
जैसे भवन उमा चाहती हैं वैसा इसे बनवा दीजै।।
पार्वती तब खुश होकर विश्वकर्मा को समझाने लगीं।
जो कुछ मन में सोच रखा था सब उनको बतलाने लगीं।।
बोली बीच समन्दर में एक नगर बसाना चाहती हूँ।
चार हो जिसके द्वार वो किला बनाना चाहती हूँ।।
गर्म और ठंडे ताल तलैया सुंदर बाग बगीचे हों।
साफ़ सुहानी सड़कें हों और पक्के गली गलीचे हों।।
मेरे रंग महल की तुम छत में भी सोना लगवा दो।
सोने के हों घर दरवाजे बीच में हीरे जड़वा दो।।
झिलमिल फ़र्शों में हो रंग बिरंगी मीनाकारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

सोने की दीवार फ़र्श और आँगन भी हों सोने के।
मंच पलंग के साथ साथ सब बरतन भी हों सोने के।।
मतलब ये के आज तलक न बना किसी का घर होवे।
उसको जब लक्ष्मी देखे झुक गया उसी का सर होवे।।
विश्वकर्मा ने अपने अस्त्र ब्रह्मलोक से मँगवाये।
भवन कला का सब सामान वो साथ साथ ही ले आए।।
आदिकाल से विश्वकर्मा एक ऐसे भवन निर्माता थे।
चित्र मूर्ति भवन बाग, वो सभी कला के ज्ञाता थे।।
आँखें मूँद के अपने मन में जो संकल्प उठाते थे।
आँखें खोल के देखते थे बस वहीं भवन बन जाते थे।।
ऐसा ही एक चमत्कार विश्वकर्मा ने दिखलाया था।
बीच समन्दर उन्होंने एक अनूठा भवन बनवाया था।।
ठाठ बाठ और धर्म पान सब उसके थे मनुहारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

मन में पार्वती ने जो सोचा था उससे बढ़कर था।
मतलब ये की लक्ष्मी के महलों से लगता सुंदर था।।
उमा बोली अब चलिये प्रभु उसमें एक यज्ञ रचाना है।
सब देवों के साथ साथ लक्ष्मी को भी बुलवाना है।।
दोनों आए नगर में आज उमा को हर्ष अपार हुआ।
स्वर्ण महल दिखलाकर बोली मेरा सपन साकार हुआ।।
बोली इसका गृह प्रवेश भी करना है त्रिपुरारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

शंकर सोचें खेल प्रभु का नहीं समझ में आता है।
जो जितना खुश होता है उतने ही आँसू बहाता है।।
फिर भी उन्होंने पार्वती का बिल्कुल दिल नहीं तोड़ा था।
जो कुछ वो कहती जातीं थीं हाँ में हाँ ही जोड़ा था।।
दे स्तुति देवताओं को निमंत्रण भिजवाया था।
विशर्वा पंडित जी को पूजा के लिये बुलाया था।।
विष्णु लक्ष्मी ब्रह्म इंद्र सभी देवता आए थे।
बीच समन्दर स्वर्ण महल देख सभी हर्षाये थे।।
हाथ पकड़ कर लक्ष्मी का तब पार्वती ले जाती हैं।
सोने की ईंटों से बना वो महल उसे दिखलाती हैं।।
और कहती हैं देख रही हो चमत्कार त्रिपुरारी का।
भिक्षु तुमने कहा जिसे यह महल है उसी भिखारी का।।
देखने आई है ये देखो देखो ये दुनिया सारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

रोशनदान खिड़की द्वार फ़र्श तलक है सोने का।
तेरा महल अब नहीं बराबर मेरे महल के कोने का।।
शंकर बोले पार्वती मन में अज्ञान नहीं भरते।
समझ बूझ वाले व्यक्ति झूठा अभिमान नहीं करते।।
इतने में पूजा का मंडप सज धज कर तैयार हुआ।
शंकर उमा ने हवन किया और नभ में जय जय कार हुआ।।

महर्षि विशर्वा विधि विधान से मंत्र पढ़ते जाते थे।
बारीकि से पूजन की वे क्रिया समझाते थे।।
पूर्ण आहुति पड़ी तो सब देवों ने फूल बरसाये थे।
साधु देवता ब्राह्मण सब भोजन के लिये बिठाये थे।।
फिर सब को दे दे के दक्षिणा सब का ही सम्मान किया।
खुशी खुशी सब देवताओं ने माँगी विदा प्रस्थान किया।।
जय जय से नभ गूँज उठा सब हर्षित थे नर नारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

अंत में शिव जी ने आचार्य को अपने पास बुलाया था।
महर्षि विशर्वा ने आकर तब चरणों में शीश झुकाया था।।
शंकर बोले आप के आने से हम सचमुच धन्य हुए।
माँगो जो भी माँगना चाहो हम हैं बहुत प्रसन्न हुए।।
पंडित बोला क्या सचमुच ही मेरी झोली भर देंगे।
अभी अभी जो कहा आपने वचन वो पूरा कर देंगे।।
शंकर बोले हाँ हाँ तेरे मन में कोई शंका है।
मेरा वचन सत्य होता है ये तीन लोक में डंका है।।
तूने हमें प्रसन्न किया और अब है तेरी बारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

शीश नवा कर बोला वो प्रभु अपना वचन सत्य कर दीजै।
हे भोले भंडारी मैं माँगूँगा वो वर दीजै।।
सिंधु बीच ये सोने का जो आपने भवन बनाया है।
यही मुझे दे दीजिये मेरा मन इस ही पे आया है।।
जिसने भी ये शब्द सुने तो सुन के बड़ा आघात हुआ।
उमा के मन पर तो सचमुच जैसे था वज्रपात हुआ।।
बोली उमा ऐ ब्राह्मण तुमने सोई कला जगाई है।
मेरी अरमानों की बस्ती में एक आग लगाई है।।
मेरा है ये श्राप कि आखिर इक दिन वो भी आएगा।
हरी भरी तेरी दुनिया का नाम तलक मिट जायेगा।।

ऐसे काल के चक्कर में ये बस्ती भी खो जायेगी।
उस दिन तेरी सोने की नगरी भी राख हो जायेगी।।
तेरा दीया बुझेगा एक दिन होगी रात अंधियारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।।जय जय भोले भंडारी।।

सुना आपने जग वालों भयंकर उमा का श्राप था जो।
पंडित और नहीं था कोई रावण का ही बाप था वो।।
बीच समन्दर बसी हुई वो सोने ही की लंका थी।
जो कुछ कहा उमा ने वो सच होने में क्या शंका थी।।
पार्वती के श्राप ने फिर एक दिन वो रंग दिखलाया था।
पवनपुत्र ने एक दि न सोने की लंका को राख बनाया था।।
राम और रावण के बीच भड़क उठी थी रण ज्वाला।
रहा न उसके कुल में कोई पानी तक देने वाला।।
सोमनाथ जो औरों को जितना भी दुःख पहुँचाता है।
ऐसे ही दुःख सागर में वो डूब एक दिन जाता है।।
शंकर पार्वती की जय जय सब बोलें नर नारी।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।
डमरू वाले बाबा तेरी लीला है न्यारी।। जय जय भोले भंडारी।।

रावण और मंदोदरी के तीन पुत्र हुए, अक्षय कुमार, मेघनाद और अतिकाय। रावण बहुत अहंकारी था। मंदोदरी जानती थी कि जिस मार्ग पर वह चल रहा है, उस मार्ग पर विनाश के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं होगा। उसने बहुत प्रयास किये ताकि रावण उचित मार्ग पर चल पड़े, लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

श्री स्वरुप पुत्री गर्भ धारण

जैसा उपरोक्त वर्णन है, रावण के पिता महर्षि विश्रवा ने महादेव के वरदान स्वरुप प्राप्त लंका अपने पुत्र रावण को सौंप दी। रावण ने लंका को अपनी राजधानी बनाया। ब्रह्मदेव से वरदान प्राप्त स्त्री ‘लंकिनी’ रावण की विशेष परामर्शदाता एवं मुख्य सुरक्षा अधिकारी बनीं।

मंदोदरी मय दानव की पुत्री अवश्य थीं परन्तु थीं घोर महादेव भक्त। उन्हें सत्यता, मानवता एवं निष्कपटता अति प्रिय थी। लेकिन रावण अपनी महत्वाकांछा में इसके विपरीत उद्दंड, व्यभिचारी, अमानव एवं संतों का शत्रु होता चला जा रहा था। मंदोदरी अपने पति रावण के इस व्यवहार से बहुत दुःखी रहतीं थीं। समय समय पर वह रावण को समझाने का प्रयास करती रहती थीं लेकिन उनके समस्त प्रयास असफल ही रहते थे।

महर्षि वाल्मीकि जी द्वारा रचित 'अद्भुत रामायण' के अनुसार, रावण ने ब्रह्मदेव के वरदान से दर्प युक्त होकर तीनों लोकों की विजय यात्रा प्रारम्भ कर दी। रावण ने ब्रह्मदेव के वरदान एवं अपने बाहु बल से तीनों लोकों पर सम्पूर्ण रूप से विजय प्राप्त कर ली।

ब्रह्मदत्तवरो राजा रावनोवर्दर्पितः।
त्रैलोक्यजयसर्वस्यं प्राप्त्वान्बाहुवीर्यतः।।

इसी समय रावण के एक परम तांत्रिक मित्र ने परामर्श दिया कि अगर रावण श्रेष्ठ ब्राह्मण ऋषियों के रक्त को संचित कर उसकी आहुति महाकाली को दे तो उन ब्राह्मण ऋषियों की घोर तपस्या के समस्त गुण फलित होकर रावण में समाहित हो जाएंगे। वह अमर हो जाएगा। यह भी चेतावनी दी कि इन ब्राह्मण ऋषियों का वह वध न करे। वध करने से उसका कल्याण संभव नहीं।

इस परामर्श को मानकर महान ब्राह्मण ऋषियों के रक्त को एकत्रित करने हेतु रावण ने दंडकारण्य वन में प्रवेश किया।

उसी समय दंडकारण्य वन में ऋषि 'गृत्समद' नाम के एक उच्च तपस्वी ब्राह्मण ऋषि हुए। उनके सौ पुत्र थे, परन्तु कोई पुत्री नहीं थी। उन्होंने माँ लक्ष्मी को पुत्री रूप में प्राप्ति हेतु माँ लक्ष्मी का घोर तप किया। इस इच्छा से तप करते हुए वह प्रतिदिन नियमित रूप से मंत्रोचारण करते हुए कुशा से एक कलश में गौ माँ का घृत डालते रहते थे। उन्हें ऐसा विश्वास था कि तप पूर्ति होने पर जब वह अपनी पत्नी को यह गौ घृत पीने को देंगे तो उन्हें माँ लक्ष्मी पुत्री रूप में प्राप्त होंगी।

तत्र गृत्समदो नाम शतपुत्रपिता द्विजः।
दुहित्रर्थे भार्यया स प्रार्थितो भगवान्मुनिः।।
लक्ष्मीर्मे दुहिता भुयादित्यसौ कलशे विभुः।
दुग्धं चाहरहस्तत्र कुशाग्रेन समन्त्रतः।
स्थ्पयत्येश नियत्स्त दहिर्निर्ययौ वनम्।।

दंडकारण्य वन में ऋषि गृत्समद का तप क्रमित रहा। सर्व प्रथम दण्डकारण्य वन में रावण का सामना महर्षि गृत्समद से ही हुआ। उसने महर्षि गृत्समद का रक्त लेने हेतु अपने बाण की नोंक उनकी भुजा में घुसाने का प्रयास किया लेकिन महर्षि गृत्समद ने बचाव हेतु शरीर को मोड़ा। तब दुर्भाग्य से वह उनके हृदय में जा लगा। उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। रावण को उनके वध पर कोई पश्चाताप नहीं हुआ। वहां उसने मन्त्रित घृत वाला कलश देखा। रावण ने उस कलश को उठाया और उसमें महर्षि गृत्समद के रक्त की कुछ बूंदे एकत्रित कीं। तद्पश्चात अन्य ऋषियों के रक्त की बूँदें एकत्रित करने हेतु आगे प्रस्थान किया। महर्षि गृत्समद की हत्या एवं रावण के ऋषियों के रक्त को एकत्रित करने का समाचार सम्पूर्ण दंडकारण्य वन में दावानल की भांति फैल गया। अपना जीवन बचाने हेतु स्वयं ही समस्त ऋषियों ने अपनी अपनी भुजाएं रावण के सम्मुख प्रस्तुत कर दीं और अपने रक्त की बूंदे उसे एक प्रकार से अनुदान में दे दीं।

महर्षि गृत्समद द्वारा मन्त्रोच्चारित गौ घृत एवं ब्राह्मण महर्षियों के रक्त से भरा वह कलश लेकर अपनी राजधानी लंका पहुंचा। महाकाली को आहुति देने के मुहूर्त की प्रतीक्षा थी अतः वह यह कलश अपने महल ले आया। उसे पता था कि अगर इस कलश एवं इसमें भरे रुधिर की सत्यता महारानी मंदोदरी को बता दी तो महादेव भक्त मंदोदरी इसका प्रतिरोध करेंगी। अतः उसने महारानी मंदोदरी से बस इतना कहा कि

वह दंडकारण्य वन से विष एकत्रित करके लाया है जिसका प्रयोग औषधि हेतु किया जाएगा। उसने महारानी मंदोदरी को निर्देश दिया कि वह इस विष को सम्हाल कर किसी सुरक्षित स्थान पर रख दें।

दंडकारण्य वन में एक लम्बे समय तक ब्राह्मण ऋषियों के रक्त को संचित करने हेतु भ्रमण करते रहने से रावण कुछ थकान अनुभव कर रहा था। मनोरंजन एवं विश्राम हेतु तब वह मंदर एवं सह्य पर्वत पर रमण करने चला गया जहां उसने देव, दानव, यक्ष एवं गंधर्वों की कन्याओं का हरण कर उन्हें भोग के लिए रख रखा था।

इस प्रकार व्यभिचार हेतु अपने पति रावण को इन रमणीक स्थलों में विहार हेतु जाने से मंदोदरी अत्यंत कुंठित थीं। पति रावण का अपने प्रति स्नेह न देखकर वह स्वयं को तिरस्कृत अनुभव करने लगीं। उन्होंने सोचा कि उन नारियों के जीवन, यौवन एवं कुल को धिक्कार है जो पति से वंचित हैं। इस जीवन से तो उत्तम है कि वह मृत्यु का आँचल ग्रहण करें। तभी उन्हें रावण के दिए हुए कथित विष से भरे कलश का स्मरण आया। उन्होंने तुरंत मृत्यु प्राप्त करने हेतु उस कलश में भरे मन्त्रोच्चारित गौ घृत एवं रुधिर को विष समझ कर पी लिया।

पुरा रावणसंदिष्टं शोणितं क्ष्वेडतोअधिकम्।
पपौ मरणमांकाङ्क्षय पतिना वञ्चिता सती।।
लक्ष्मीशरणदुग्धेन मिश्रि ताच्छोनिताद्भुत।।

माँ लक्ष्मी के आश्रय भूत मन्त्रोच्चारित घृत से मिश्रित महान ऋषियों के रुधिर से शीघ्र ही मंदोदरी के उदर में अग्नि के समान तेजस्वी गर्भ का आधान हो गया। तब विस्मय पूर्ण मंदोदरी सोचने लगीं, 'इस विष पान ने तो मुझे मृत्यु के स्थान पर गर्भित कर दिया। मेरे कामी पति रावण इस समय कामनीयों के साथ क्रीड़ा करते हुए मुझ से लगभग एक वर्ष से दूर हैं। एक वर्ष से मेरा पति के साथ सहवास संभव नहीं हो सका है। पति के सम्मुख साध्वी पतिव्रता मंदोदरी गर्भवती होने का क्या कारण बताएगी?'

इस प्रकार चिंता से दग्ध मंदोदरी ने इस समस्या का एक समाधान निकाला। वह अपनी एक प्रिय सखी एवं विश्वासपात्र सेवक सेविकाओं के साथ तीर्थ यात्रा हेतु कुरुक्षेत्र को निकल पड़ीं।

कि वक्तव्यं मया साध्व्या गर्भिन्द्या भ्रत्र् संसदि।
चिन्तया दग्धगात्रीव तीर्थसेवन छद्मना।
विमानवरमारुह्म् कुरुक्षेत्रं जगाम सा।।

तीर्थ यात्रा करते हुए लगभग नौ मास का समय बीत गया। उस समय उनका परिकर मिथिलापुरी क्षेत्र की सीमा में था। वैसाख मास की शुक्ल अष्टमी का दिवस था। रात्रि होने पर उनके परिकर ने वहीं मिथलापुर राज्य के एक ग्राम के समीप अपना शिविर लगा लिया। अगले दिवस ब्रह्म मुहूर्त में जब नवमी का प्रवेश हो चुका था तभी अचानक उन्हें प्रसव पीड़ा होने लगी। तब उन्होंने अपनी प्रिय सखी की सहायता से एक बालिका को जन्म दिया। पति रावण एवं लोक लज्जा के डर से वह उस सुन्दर पुत्री को अपने साथ लंका ले जाने में संकोच कर रहीं थीं। वह पूर्णतः पुष्टित थीं कि रावण अवश्य ही उनकी एवं उनकी इस पुत्री की हत्या कर देगा। इस विचार ने उन्हें विचलित कर दिया। एक माँ के लिए अपनी पुत्री का त्याग भी संभव नहीं। हृदय व्याकुल हो गया। नेत्रों से अश्रु धारा बहने लगी। अपनी प्रिय सखी मंदोदरी का हृदय विदारक रुदन उनकी सखी से भी नहीं देखा गया। वह भी फूट फूट कर रोने लगी। मय दानव की पुत्री एवं भगवान् शिव शंकर की अनन्य भक्त मंदोदरी को तब अपनी कुलदेवी निकुंबला देवी (माँ भवानी का ही एक रूप जिसे रावण एवं उसका परिवार अपनी कुलदेवी के रूप में पूजा करता था) का स्मरण हो आया। कुलदेवी निकुंबला देवी को स्मरण कर वह हृदय से उन्हें पुकारने लगीं। हृदय की पुकार थी। माँ निकुंबला देवी प्रगट हो गईं। उन्होंने मंदोदरी को सान्त्वना देते हुए कहा, 'हे पुत्री मंदोदरी, तू विचलित नहीं हो। तेरी पुत्री का मैं स्वयं पूर्ण ध्यान रखूंगी। अब जैसा मैं कहती हूँ, वैसा कर। तेरे पास जो एक जल हेतु चौड़े मुख वाला स्वर्ण कलश है, उसमें इस बालिका को रख। उसके मुख को एक कपडे से बाँध दे ताकि वायु प्रवेश कर सके, कीट नहीं। इस कलश को यहीं पास की भूमि में इस प्रकार भूमिगत कर कि उसका मुख सतह पर रहे। इसके पश्चात तू निश्चिंत होकर लंका के लिए प्रस्थान कर।'

माँ निकुंबला देवी के हृदय को सुख देने वाले वचन सुन कर मंदोदरी के नेत्रों से प्रसन्नता के अश्रु बहने लगे। उसने माँ के चरण पकड़ लिए। बार बार उनकी आराधना की। तद्पश्चात माँ अंतर्ध्यान हो गईं। मंदोदरी ने तब अपनी सखी की सहायता से जैसा

माँ ने आदेश दिया था, वही किया। वह माँ के वचनों पर श्रद्धा रखती हुई अपने परिकर के साथ तब लंका नगरी को प्रस्थान कर गईं।
अब माँ की लीला देखिए। उसी रात्रि मिथलापुर नरेश जनक एवं उनके पुरोहित आचार्य सतानंद जी, दोनों को ही, माँ ने स्वप्न में दर्शन दिए और आज्ञा दी कि वह तुरंत प्रातः उस विशेष स्थान पर हल चलाएं जिससे उनके राज्य में वैभवता आएगी।

मिथिलापुरी राज्य उस समय भयंकर अकाल से पीड़ित था। १२ वर्ष से राज्य में वर्षा नही हुई थी। सम्पूर्ण राज्य सूखा से बुरी तरह प्रभावित था। जीव-जंतु, वृक्ष, मानव त्राहि त्राहि कर रहे थे। सम्राट जनक इस स्थिति से अत्यंत चिंतित थे। उन्होंने अपने पुरोहित आचार्य सतानंद जी से मिलकर कई अनुष्ठान भी कराए लेकिन कोई परिणाम दृष्टिगोचर नहीं हो पा रहा था। माँ के इस स्वप्न ने उन्हें कुछ आशा जगाई। वह तुरंत अपने पुरोहित आचार्य सतानंद जी के आश्रम में गए और माँ के स्वप्न के बारे में उन्हें बताया। आचार्य सतानंद को तब अत्यंत आश्चर्य हुआ। यही माँ का स्वप्न उन्होंने भी देखा था। विचार विमर्श के लिए तब दोनों ही, सम्राट जनक एवं आचार्य सतानंद जी, महर्षि अष्टवक्र के आश्रम में पहुंचे।

महर्षि अष्टवक्र को दंण्डवत प्रणाम करने के पश्चात उन्होंने अपने माँ के स्वप्न के बारे में महर्षि अष्टवक्र जी को बताया। त्रिकालदर्शी महर्षि अष्टवक्र तब बोले, 'हे राजन, माँ का स्वप्न आदेश है। तुरंत प्रातः इस माँ द्वारा बताए हुए स्थान पर आप एवं साम्राज्ञी सुनयना मिलकर हल चलाएं। फल अवश्य ही लाभकारी होगा।'

सम्राट जनक ने महर्षि अष्टवक्र के आदेशानुसार आचार्य सतानंद को साथ लिया और महल आ गए। साम्राज्ञी सुनयना को तुरंत हल चलाने के लिए तत्पर किया और स्वर्ण के फल वाला हल लेकर उस विशेष स्थान पर पहुँच गए।

प्रातः की बेला में जब पूर्णतः प्रकाश नहीं हो पाया था, माँ द्वारा इंगित उस विशेष स्थान पर सम्राट जनक साम्राज्ञी सुनयना के साथ हल चलाने लगे। आचार्य सतानंद जी माँ की स्तुति में मंत्रोचारण कर रहे थे। तभी सम्राट जनक का हल किसी कलश से टकराया। सम्राट जनक ने तुरंत हल चलाना छोड़ा और उस कलश को निकाला। जब उस कलश को खोला तो उसमें एक सुंदर बालिका मिलीं। उसी समय आकाश से उस कन्या के ऊपर पुष्पों की वर्षा होने लगी। शीघ्र ही काले काले बदरा उमड़ आए। वर्षा

होने लगी। इस महान आश्चर्य को देखकर सम्राट जनक, साम्राज्ञी सुनयना एवं आचार्य सतानंद जी सभी अचंभित हो गए।

तभी एक आकाशवाणी हुई, 'हे सम्राट जनक, इस महाप्रभावशालिनी कन्या को अपनाओ। इसका तुम पालन करो। अग्नि एवं सूर्य के समान यह दिव्य कन्या तुम्हारे लिए सौभाग्य लेकर आई है। इस महाभाग्यशालिनी कन्या से विश्व में बड़ा कल्याण होगा। यह कन्या इस हल की नोंक से प्रगट हुई है, अतः इसका नाम सीता रखो।'

'कासाराम तू सीतासारं नैवेद्यम भास्कराय वे' (भविष्य पुराण)

आकाशवाणी से प्रफुल्लित सम्राट जनक एवं साम्राज्ञी सुनयना तब आचार्य सतानंद जी के साथ उस कन्या को लेकर अपने महल आ गए।

उद्भव स्थिति संहार कारिणीं क्लेश हारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं राम वल्लभाम्।।

अनंतकोटि ब्रह्माण्ड जननी पराम्बा श्री जानकी जी के मंगलमय प्राकट्य उत्सव पर उनके श्री चरणों में कोटि कोटि साष्टांग दंडवत प्रणाम। हे माँ, हमारे हृदय में आपका कमल स्वरुप सदैव विराजमान रहे। आप अपनी चरणों की रस रूपा प्रेम लक्षणा भक्ति हमें प्रदान करें।

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।

राजा जनक की पुत्री, जगत् की माता और करुणा निधान की प्रियतमा श्री जानकी जी के दोनों चरण कमलों को मैं विनती करता हूँ, जिनकी कृपा से निर्मल बुद्धि पाऊँ।

माँ सीता का रावण द्वारा हरण और मंदोदरी का शोक

जब रावण ने प्रतिबिंबित माँ सीता का हरण किया तो महारानी मंदोदरी चाहती थी कि रावण, भगवान राम की पत्नी माता सीता को उनके पति के पास भेज दे। क्योंकि वह उस श्राप के विषय में जानती थी जिसके अनुसार भगवान राम के हाथ से ही रावण का अंत होना था। उन्होंने रावण को बहुत समझाने का प्रयास किया।

गोस्वामी जी ने श्री रामचरितमानस में इस का बहुत अच्छी तरह से चित्रण किया है।

जब भगवान् राम की सेना समुद्र बाँध कर लंका पहुँच गईं तो महारानी मंदोदरी ने रावण को बहुत समझाया।

उहाँ निसाचर रहहिं ससंका। जब तें जारि गयउ कपि लंका।।
निज निज गृहँ सब करहिं बिचारा। नहिं निसिचर कुल केर उबारा।।

वहाँ (लंका में) जब से हनुमान्‌जी लंका को जलाकर गए, तब से राक्षस भयभीत रहने लगे। अपने अपने घरों में सब विचार करते हैं कि अब राक्षस कुल की रक्षा (का कोई उपाय) नहीं है।

जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आएँ पुर कवन भलाई।।
दूतिन्ह सन सुनि पुरजन बानी। मंदोदरी अधिक अकुलानी।।

जिसके दूत का बल वर्णन नहीं किया जा सकता, उसके स्वयं नगर में आने पर कौन भलाई है (हम लोगों की बड़ी बुरी दशा होगी)? दूतियों से नगर वासियों के वचन सुनकर मंदोदरी बहुत ही व्याकुल हो गई।

रहसि जोरि कर पति पग लागी। बोली बचन नीति रस पागी।।
कंत करष हरि सन परिहरहू। मोर कहा अति हित हियँ धरहू।।

वह एकांत में हाथ जोड़कर पति (रावण) के चरणों लगी और नीतिरस में पगी हुई वाणी बोली, 'हे प्रियतम, श्री हरि से विरोध छोड़ दीजिए। मेरे कहने को अत्यंत ही हितकर जानकर हृदय में धारण कीजिए।'

समुझत जासु दूत कइ करनी। स्रवहिं गर्भ रजनीचर घरनी।।
तासु नारि निज सचिव बोलाई। पठवहु कंत जो चहहु भलाई।।

'जिनके दूत की करनी का विचार करते ही (स्मरण आते ही) राक्षसों की स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं, हे प्यारे स्वामी, यदि भला चाहते हैं, तो अपने मंत्री को बुलाकर उसके साथ उनकी स्त्री को भेज दीजिए।'

तव कुल कमल बिपिन दुःख दाई। सीता सीत निसा सम आई।।
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।।

'सीता आपके कुल रूपी कमलों के वन को दुःख देने वानरराज बालि जाड़े की रात्रि के समान आई है। हे नाथ, सुनिए, सीता को दिए (लौटाए) बिना शम्भु और ब्रह्मा के किए भी आपका भला नहीं हो सकता।'

राम बान अहि गन सरिस निकर निसाचर भेक।
जब लगि ग्रसत न तब लगि जतनु करहु तजि टेक।।

'श्री रामजी के बाण सर्पों के समूह के समान हैं और राक्षसों के समूह मेंढक के समान। जब तक वे इन्हें ग्रस नहीं लेते (निगल नहीं जाते) तब तक हठ छोड़कर उपाय कर लीजिए।'

श्रवन सुनी सठ ता करि बानी। बिहसा जगत बिदित अभिमानी।।
सभय सुभाउ नारि कर साचा। मंगल महुँ भय मन अति काचा।।

मूर्ख और जगत प्रसिद्ध अभिमानी रावण कानों से उसकी वाणी सुनकर खूब हँसा (और बोला) स्त्रियों का स्वभाव सचमुच ही बहुत डरपोक होता है। मंगल में भी भय करती हो। तुम्हारा मन (हृदय) बहुत ही कच्चा (कमजोर) है।

जौं आवइ मर्कट कटकाई। जिअहिं बिचारे निसिचर खाई।।
कंपहिं लोकप जाकीं त्रासा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा।।

यदि वानरों की सेना आवेगी तो बेचारे राक्षस उसे खाकर अपना जीवन निर्वाह करेंगे। लोकपाल भी जिसके डर से काँपते हैं, उसकी स्त्री डरती हो, यह बड़ी हँसी की बात है।

अस कहि बिहसि ताहि उर लाई। चलेउ सभाँ ममता अधिकाई।।
मंदोदरी हृदयँ कर चिंता। भयउ कंत पर बिधि बिपरीता।।

रावण ने ऐसा कहकर हँसकर उसे हृदय से लगा लिया और ममता बढ़ाकर (अधिक स्नेह दर्शाकर) वह सभा में चला गया। मंदोदरी हृदय में चिंता करने लगी कि पति पर विधाता प्रतिकूल हो गए।

बैठेउ सभाँ खबरि असि पाई। सिंधु पार सेना सब आई।।
बूझेसि सचिव उचित मत कहहू। ते सब हँसे मष्ट करि रहहू।।

ज्यों ही वह सभा में जाकर बैठा, उसने ऐसी खबर पाई कि शत्रु की सारी सेना समुद्र के उस पार आ गई है, उसने मंत्रियों से पूछा कि उचित सलाह कहिए (अब क्या करना चाहिए?)। तब वे सब हँसे और बोले कि चुप रहिए (इसमें सलाह की कौन सी बात है?)।

जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं। नर बानर केहि लेखे माहीं।।

आपने देवताओं और राक्षसों को जीत लिया, तब तो कुछ श्रम ही नहीं हुआ। फिर मनुष्य और वानर किस गिनती में हैं?

अभिमानी रावण ने किसी की सलाह न मानते हुए भगवन श्री राम से युद्ध करना निश्चित किया।

जब रावण युद्ध के लिए तैयार हुए तथा रणभूमि में अपनी सेना भेजने को तत्पर हुए, फिर महारानी मंदोदरी ने रावण को समझाने का प्रयास किया।

गोस्वामी जी ने श्री रामचरितमानस के लंका (युद्ध) काण्ड में इस का भी बड़ा ही सजीव चित्रण किया है।

मंदोदरीं सुन्यो प्रभु आयो। कौतुकहीं पाथोधि बँधायो।।

(जब) मंदोदरी ने सुना कि प्रभु श्री रामजी आ गए हैं और उन्होंने खेल में ही समुद्र को बँधवा लिया है।

कर गहि पतिहि भवन निज आनी। बोली परम मनोहर बानी।।
चरन नाइ सिरु अंचलु रोपा। सुनहु बचन पिय परिहरि कोपा।।

(तब) वह हाथ पकड़कर पति को अपने महल में लाकर परम मनोहर वाणी बोली। चरणों में सिर नवाकर उसने अपना आँचल पसारा और कहा, 'हे प्रियतम, क्रोध त्याग कर मेरा वचन सुनिए।'

नाथ बयरु कीजे ताही सों। बुधि बल सकिअ जीति जाही सों।।
तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।।

'हे नाथ, वैर उसी के साथ करना चाहिए जिससे बुद्धि और बल के द्वारा जीत सकें। आप में और श्री रघुनाथजी में निश्चय ही ऐसा अंतर है, जैसा जुगनू और सूर्य में।'

अति बल मधु कैटभ जेहिं मारे। महाबीर दितिसुत संघारे।।
जेहिं बलि बाँधि सहस भुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा।।

'जिन्होंने (विष्णु रूप से) अत्यन्त बलवान् मधु और कैटभ (दैत्य) मारे और (वराह और नृसिंह रूप से) महान् शूरवीर दिति के पुत्रों (हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु) का संहार किया, जिन्होंने (वामन रूप से) वानरराज बालि को बाँधा और (परशुराम रूप से)

सहस्रबाहु को मारा, वह ही (भगवान्) पृथ्वी का भार हरण करने के लिए (राम रूप में) अवतीर्ण (प्रकट) हुए हैं।'

तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाकें हाथा।।

' हे नाथ, उनका विरोध न कीजिए, जिनके हाथ में काल, कर्म और जीव सभी हैं।'

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ।।

'(श्री रामजी) के चरण कमलों में सिर नवाकर (उनकी शरण में जाकर) उनको जानकी जी सौंप दीजिए और आप पुत्र को राज्य देकर वन में जाकर श्री रघुनाथजी का भजन कीजिए।'

नाथ दीनदयाल रघुराई। बाघउ सनमुख गएँ न खाई।।
चाहिअ करन सो सब करि बीते। तुम्ह सुर असुर चराचर जीते।।

'हे नाथ, श्री रघुनाथजी तो दीनों पर दया करने वाले हैं। सम्मुख (शरण) जाने पर तो बाघ भी नहीं खाता। आपको जो कुछ करना चाहिए था, वह सब आप कर चुके। आपने देवता, राक्षस तथा चर-अचर सभी को जीत लिया।'

संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेंपन जाइहि नृप कानन।।
तासु भजनु कीजिअ तहँ भर्ता। जो कर्ता पालक संहर्ता।।

'हे दशमुख, संतजन ऐसी नीति कहते हैं कि चौथेपन (बुढ़ापे) में राजा को वन में चला जाना चाहिए। हे स्वामी, वहाँ (वन में) आप उनका भजन कीजिए जो सृष्टि के रचने वाले, पालने वाले और संहार करने वाले हैं।'

सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी। भजहु नाथ ममता सब त्यागी।।
मुनिबर जतनु करहिं जेहि लागी। भूप राजु तजि होहिं बिरागी।।

‘हे नाथ, आप विषयों की सारी ममता छोड़कर उन्हीं शरणागत पर प्रेम करने वाले भगवान् का भजन कीजिए। जिनके लिए श्रेष्ठ मुनि साधन करते हैं और राजा राज्य छोड़कर वैरागी हो जाते हैं।’

सोइ कोसलाधीस रघुराया। आयउ करन तोहि पर दाया।।
जौं पिय मानहु मोर सिखावन। सुजसु होइ तिहुँ पुर अति पावन।।

‘वही कोसलाधीश श्री रघुनाथ जी आप पर दया करने आए हैं। हे प्रियतम, यदि आप मेरी सीख मान लेंगे, तो आपका अत्यंत पवित्र और सुंदर यश तीनों लोकों में फैल जाएगा।’

अस कहि नयन नीर भरि गहि पद कंपित गात।
नाथ भजहु रघुनाथहि अचल होइ अहिवात।।

ऐसा कहकर, नेत्रों में (करुणा का) जल भरकर और पति के चरण पकड़कर, काँपते हुए शरीर से मंदोदरी ने कहा, ‘हे नाथ, श्री रघुनाथजी का भजन कीजिए, जिससे मेरा सुहाग अचल हो जाए।’

तब रावन मयसुता उठाई। कहै लाग खल निज प्रभुताई।।
सुनु तैं प्रिया बृथा भय माना। जग जोधा को मोहि समाना।।

तब रावण ने मंदोदरी को उठाया और वह दुष्ट उससे अपनी प्रभुता कहने लगा, ‘हे प्रिये, सुन, तूने व्यर्थ ही भय मान रखा है। बता तो जगत् में मेरे समान योद्धा कौन है?’

बरुन कुबेर पवन जम काला। भुज बल जितेउँ सकल दिगपाला।।
देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें।।

‘वरुण, कुबेर, पवन, यमराज आदि सभी दिक्पालों को तथा काल को भी मैंने अपनी भुजाओं के बल से जीत रखा है। देवता, दानव और मनुष्य सभी मेरे वश में हैं। फिर तुझको यह भय किस कारण उत्पन्न हो गया?’

नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभाँ बहोरि बै ठ सो जाई।।
मंदोदरीं हृदयँ अस जाना। काल बस्य उपजा अभिमाना।।

मंदोदरी ने उसे बहुत तरह से समझाकर कहा (किन्तु रावण ने उसकी एक भी बात न सुनी) और वह फिर सभा में जाकर बैठ गया। मंदोदरी ने हृदय में ऐसा जान लिया कि काल के वश होने से पति को अभिमान हो गया है।

सभाँ आइ मंत्रिन्ह तेहिं बूझा। करब कवन बिधि रिपु सैं जूझा।।
कहहिं सचिव सुनु निसिचर नाहा। बार बार प्रभु पूछहु काहा।।

सभा में आकर उसने मंत्रियों से पूछा कि शत्रु के साथ किस प्रकार से युद्ध करना होगा? मंत्री कहने लगे, 'हे राक्षसों के नाथ, हे प्रभु, सुनिए, आप बार बार क्या पूछते हैं?'

कहहु कवन भय करिअ बिचारा। नर कपि भालु अहार हमारा।।

'कहिए तो (ऐसा) कौन सा बड़ा भय है, जिसका विचार किया जाए? (भय की बात ही क्या है?) मनुष्य और वानर-भालू तो हमारे भोजन (की सामग्री) हैं।'

रावण के अभिमान ने अपनी सबसे बड़ी हितैषी अपनी धर्मपत्नी मंदोदरी की बात नहीं मानी। लेकिन हितैषी वहीं नहीं रुक जाता। वह बार बार चेतावनी देता है और बार बार प्रयास करता रहता है कि संभवतः अभी भी मेरी बात मानकर अपना कल्याण कर लें।

मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ।।

जब से कर्णफूल पृथ्वी पर गिरा, तब से मंदोदरी के हृदय में सोच बस गया।

सजल नयन कह जुग कर जोरी। सुनहु प्रानपति बिनती मोरी।।
कंत राम बिरोध परिहरहू। जानि मनुज जनि हठ लग धरहू।।

नेत्रों में जल भरकर, दोनों हाथ जोड़कर वह (रावण से) कहने लगी, 'हे प्राणनाथ, मेरी विनती सुनिए। हे प्रियतम, श्री राम से विरोध छोड़ दीजिए। उन्हें मनुष्य जानकर मन में हठ न पकड़े रहिए।'

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु।।

'मेरे इन वचनों पर विश्वास कीजिए कि यह रघुकुल के शिरोमणि श्री रामचंद्र जी विश्व रूप हैं। (यह सारा विश्व उन्हीं का रूप है)। वेद जिनके अंग-अंग में लोकों की कल्पना करते हैं।'

पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा।।
भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घन माला।।

'पाताल (जिन विश्व रूप भगवान् का) चरण है, ब्रह्म लोक सिर है, अन्य (बीच के सब) लोकों का विश्राम (स्थिति) जिनके अन्य भिन्न-भिन्न अंगों पर है। भयंकर काल जिनका भृकुटि संचालन (भौंहों का चलना) है। सूर्य नेत्र हैं, बादलों का समूह बाल है।'

जासु घ्रान अस्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा।।
श्रवन दिसा दस बेद बखानी। मारुत स्वास निगम निज बानी।।

'अश्विनी कुमार जिनकी नासिका हैं। रात और दिन जिनके अपार निमेष (पलक मारना और खोलना) हैं। दसों दिशाएँ कान हैं। वेद ऐसा कहते हैं। वायु श्वास है और वेद जिनकी अपनी वाणी है।'

अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला।।
आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा।।

'लोभ जिनका अधर (होठ) है। यमराज भयानक दाँत हैं। माया हँसी है। दिक्पाल भुजाएँ हैं। अग्नि मुख है। वरुण जीभ है। उत्पत्ति, पालन और प्रलय जिनकी चेष्टा (क्रिया) है।'

रोम राजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा।।
उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभु का बहु कलपना।।

'अठारह प्रकार की असंख्य वनस्पतियाँ जिनकी रोमावली हैं। पर्वत अस्थियाँ हैं। नदियाँ नसों का जाल है। समुद्र पेट है और नरक जिनकी नीचे की इंद्रियाँ हैं। इस प्रकार प्रभु विश्वमय हैं, अधिक कल्पना (ऊहापोह) क्या की जाए?'

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान।।

'शिव जिनका अहंकार हैं। ब्रह्मा बुद्धि हैं। चंद्रमा मन हैं और महान (विष्णु) ही चित्त हैं। उन्हीं चराचर रूप भगवान श्री रामजी ने मनुष्य रूप में निवास किया है।'

अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ।।

'हे प्राणपति सुनिए, ऐसा विचार कर प्रभु से वैर छोड़कर श्री रघुवीर के चरणों में प्रेम कीजिए, जिससे मेरा सुहाग न जाए।'

बिहँसा नारि बचन सुनि काना। अहो मोह महिमा बलवाना।।
नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।

पत्नी के वचन कानों से सुनकर रावण खूब हँसा (और बोला) 'अहो, मोह (अज्ञान) की महिमा बड़ी बलवान् है। स्त्री का स्वभाव सब सत्य ही कहते हैं कि उसके हृदय में आठ अवगुण सदा रहते हैं।'

साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया।।
रिपु कर रूप सकल तैं गावा। अति बिसाल भय मोहि सुनावा।।

'साहस, झूठ, चंचलता, माया (छल), भय (डरपोकपन) अविवेक (मूर्खता), अपवित्रता और निर्दयता। तूने शत्रु का समग्र (विराट) रूप गाया और मुझे उसका बड़ा भारी भय सुनाया।'

सो सब प्रिया सहज बस मोरें। समुझि परा अब प्रसाद तोरें।।
जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहहु मोरि प्रभुताई।।

'हे प्रिये, वह सब (यह चराचर विश्व तो) स्वभाव से ही मेरे वश में है। तेरी कृपा से मुझे यह अब समझ पड़ा। हे प्रिये, तेरी चतुराई मैं जान गया। तू इस प्रकार (इसी बहाने) मेरी प्रभुता का बखान कर रही है।'

तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भय मोचनि।।
मंदोदरि मन महुँ अस ठयऊ। पियहि काल बस मति भ्रम भयउ।।

'हे मृगनयनी, तेरी बातें बड़ी गूढ़ (रहस्यभरी) हैं, समझने पर सुख देने वाली और सुनने से भय छुड़ाने वाली हैं। मंदोदरी ने मन में ऐसा निश्चय कर लिया कि पति को कालवश मतिभ्रम हो गया है।'

ऐहि बिधि करत बिनोद बहु प्रात प्रगट दसकंध।
सहज असंक लंकपति सभाँ गयउ मद अंध।।

इस प्रकार (अज्ञानवश) बहुत से विनोद करते हुए रावण को सबेरा हो गया। तब स्वभाव से ही निडर और घमंड में अंधा लंकापति सभा में गया।

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम।।

यद्यपि बादल अमृत सा जल बरसाते हैं तो भी बेल फूलता फलता नहीं। इसी प्रकार चाहे ब्रह्मा के समान भी ज्ञानी गुरु मिलें, तो भी मूर्ख के हृदय में चेत (ज्ञान) नहीं होता।

संत का स्वभाव तो देखिये। कितना भी अपमानित होता रहे फिर भी अपने निज जन को सदमार्ग पर लाने का प्रयास ही करता रहता है। ऐसी ही संत थीं मंदोदरी जी। जब श्री राम दूत अंगद के समझाने पर भी रावण नहीं माना और सीता माँ को वापस देने को तैयार नहीं हुआ, तब फिर एक बार महारानी मंदोदरी ने उसे समझाने का प्रयास किया। गोस्वामी जी कहते हैं।

साँझ जानि दसकंधर भवन गयउ बिलखाइ।
मंदोदरीं रावनहिं बहुरि कहा समुझाइ।।

सन्ध्या हो गई जानकर दशग्रीव बिलखता हुआ (उदास होकर) महल में गया। मन्दोदरी ने रावण को समझाकर फिर कहा।

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही।।
रामानुज लघु रेख खचाई। सोउ नहिं नाघेहु असि मनुसाई।।

‘हे कान्त, मन में समझकर (विचारकर) कुबुद्धि को छोड़ दो। आप से और श्री रघुनाथ जी से युद्ध शोभा नहीं देता। उनके छोटे भाई ने एक जरा सी रेखा खींच दी थी, उसे भी आप नहीं लाँघ सके, ऐसा तो आपका पुरुषत्व है।’

पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा। जाके दूत केर यह कामा।।
कौतुक सिंधु नाघि तव लंका। आयउ कपि केहरी असंका।।

‘हे प्रियतम, आप उन्हें संग्राम में जीत पाएँगे, जिनके दूत का ऐसा काम है? खेल से ही समुद्र लाँघकर वह वानरों में सिंह (हनुमान्) आपकी लंका में निर्भय चला आया।’

रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहिं मारा।।
जारि सकल पुर कीन्हेसि छारा। कहाँ रहा बल गर्ब तुम्हारा।।

‘रखवालों को मारकर उसने अशोक वन उजाड़ डाला। आपके देखते देखते उसने अक्षयकुमार को मार डाला और संपूर्ण नगर को जलाकर राख कर दिया। उस समय आपके बल का गर्व कहाँ चला गया था?’

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदयँ बिचारहु।।
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुलबल जानहु।।

'अब हे स्वामी, झूठ (व्यर्थ) गाल न मारिए (डींग न हाँकिए)। मेरे कहने पर हृदय में कुछ विचार कीजिए। हे पति! आप श्री रघुपति को (निरा) राजा मत समझिए, बल्कि अग-जगनाथ (चराचर के स्वामी) और अतुलनीय बलवान् जानिए।'

बान प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा।।
जनक सभाँ अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला।।

'श्री राम जी के बाण का प्रताप तो नीच मारीच भी जानता था, परन्तु आपने उसका कहना भी नहीं माना। जनक की सभा में अगणित राजागण थे। वहाँ विशाल और अतुलनीय बल वाले आप भी थे।'

भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही।।
सुरपति सुत जानइ बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा।।

'वहाँ शिवजी का धनुष तोड़कर श्री राम जी ने जानकी को ब्याहा, तब आपने उनको संग्राम में क्यों नहीं जीता? इंद्रपुत्र जयन्त उनके बल को कुछ-कुछ जानता है। श्री राम जी ने पकड़कर केवल उसकी एक आँख ही फोड़ दी और उसे जीवित ही छोड़ दिया।'

सूपनखा कै गति तुम्ह देखी। तदपि हृदयँ नहिं लाज बिसेषी।।

'शूर्पणखा की दशा तो आपने देख ही ली। तो भी आपके हृदय में (उनसे लड़ने की बात सोचते) विशेष (कुछ भी) लज्जा नहीं आती।'

बधि बिराध खर दूषनहि लीलाँ हत्यो कबंध।
बालि एक सर मार्‌यो तेहि जानहु दसकंध।।

‘जिन्होंने विराध और खर, दूषण को मारकर लीला से ही कबन्ध को भी मार डाला और जिन्होंने बालि को एक ही बाण से मार दिया, हे दशकन्ध, आप उन्हें (उनके महत्व को) समझिए।’

जेहिं जलनाथ बँधायउ हेला। उतरे प्रभु दल सहित सुबेला।।
कारुनीक दिनकर कुल केतू। दूत पठायउ तव हित हेतू।।

‘जिन्होंने खेल से ही समुद्र को बँधा लिया और जो प्रभु सेना सहित सुबेल पर्वत पर उतर पड़े, उन सूर्यकुल के ध्वजा स्वरूप (कीर्ति को बढ़ाने वाले) करुणामय भगवान् ने आप ही के हित के लिए दूत भेजा।’

सभा माझ जेहिं तव बल मथा। करि बरूथ महुँ मृगपति जथा।।
अंगद हनुमत अनुचर जाके। रन बाँकुरे बीर अति बाँके।।

‘जिसने बीच सभा में आकर आपके बल को उसी प्रकार मथ डाला जैसे हाथियों के झुंड में आकर सिंह (उसे छिन्न-भिन्न कर डालता है) रण में बाँके अत्यंत विकट वीर अंगद और हनुमान् जिनके सेवक हैं।’

तेहि कहँ पिय पुनि पुनि नर कहहू। मुधा मान ममता मद बहहू।।
अहह कंत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा।।

‘हे पति, उन्हें आप बार बार मनुष्य कहते हैं। आप व्यर्थ ही मान, ममता और मद का बोझ ढो रहे हैं! हा प्रियतम! आपने श्री रामजी से विरोध कर लिया और काल के विशेष वश होने से आपके मन में अब भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता।’

काल दंड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा।।
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं।।

‘काल दण्ड (लाठी) लेकर किसी को नहीं मारता। वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है। हे स्वामी, जिसका काल (मरण समय) निकट आ जाता है, उसे आप ही की तरह भ्रम हो जाता है।’

दुइ सुत मरे दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जसु लेहु।।

'आपके दो पुत्र मारे गए और नगर जल गया। (जो हुआ सो हुआ) हे प्रियतम, अब भी (इस भूल की) पूर्ति (समाप्ति) कर दीजिए (श्री राम जी से वैर त्याग दीजिए) और हे नाथ, कृपा के समुद्र श्री रघुनाथजी को भजकर निर्मल यश लीजिए।'

नारि बचन सुनि बिसिख समाना। सभाँ गयउ उठि होत बिहाना।।
बैठ जाइ सिंघासन फूली। अति अभिमान त्रास सब भूली।।

स्त्री के बाण के समान वचन सुनकर वह सबेरा होते ही उठकर सभा में चला गया और सारा भय भुलाकर अत्यंत अभिमान में फूलकर सिंहासन पर जा बैठा।

अभिमानी रावण ने फिर भी महारानी मंदोदरी की बात नहीं मानी। निष्कर्ष - अपने कुल सहित रण में मारा गया। अब मंदोदरी का महान चरित्र तो देखिये। जब राम-रावण युद्ध हुआ, तब एक अच्छी पत्नी की तरह उन्होंने अपने पति का साथ दिया और समर्पित स्त्री की पहचान कराते हुए रावण के जीवित लौट आने की कामना के साथ उसे रण भूमि के लिए विदा किया।

युद्ध के पश्चात मंदोदरी भी युद्ध भूमि पर गई और वहां अपने पति, पुत्रों और अन्य संबंधियों का विनाश देखकर अत्यंत दुखी हुई। फिर उन्होंने भगवान राम की ओर देखा जो स्वयं अलौकिक आभा से युक्त थे। भगवान राम ने लंका के सुखद भविष्य हेतु विभीषण को राजपाट सौंप दिया। भगवान राम ने मंदोदरी को यह सुझाव दिया कि वह विभीषण से विवाह कर लें, साथ ही उन्होंने मंदोदरी को यह भी याद दिलाया कि वह अभी लंका की महारानी हैं।

ऐसा पौराणिक कथाओं में उल्लेख है कि जब भगवान राम अपनी पत्नी सीता और भ्राता लक्ष्मण के साथ वापस अयोध्या लौटे तब पीछे से मंदोदरी ने खुद को महल में कैद कर लिया और बाहर की दुनिया से अपना संपर्क समाप्त कर लिया। कुछ समय बाद वह पुन: अपने महल से निकली और विभीषण से विवाह करने के लिए तैयार हो

गई। विवाह के पश्चात उन्होंने लंका के साम्राज्य को सही दिशा की ओर बढ़ाना प्रारंभ कर दिया।

इस महान व्यक्तित्व के कारण ही महर्षि वेद व्यास जी ने महारानी मंदोदरी को तृतीय पञ्चकन्या के रूप में पूजिनीय माना है।

चतुर्थ पञ्चकन्या – कुंती

जन्म, बाल्यावस्था और विवाह

महारानी कुंती महाभारत की एक मुख्य पात्रा हैं जिन्हे महर्षि वेद व्यास जी ने पञ्चकन्याओं में चतुर्थ कन्या के रूप में उन्हें पूजनीय और प्रातः स्मरणीय बताया है। भीषण व्यथा में भी सदैव सत्य-मार्ग-गामिनी माँ कुंती एक अद्भुत मार्ग दर्शनीय व्यक्तित्व हैं।

कुंती, यादव सम्राट शूरसेन की पुत्री थीं। सम्राट शूरसेन के पुत्र सम्राट वासुदेव, भगवान् कृष्ण के पिता, इनके सहोदर भाई थे। इस रिश्ते से कुंती भगवान् कृष्ण की बुआ थीं। शूरसेन जी ने इनका नाम प्रथा रखा था। सम्राट शूरसेन के फुफेरे भाई सम्राट कुंतिभोज के कोई सन्तान नही थी। सम्राट शूरसेन ने अपने फुफेरे भाई कुंतिभोज को यह वचन दिया कि उनकी पहली सन्तान को वह उन्हें गोद दे देंगे। फलस्वरूप पृथा को सम्राट शूरसेन जी ने सम्राट कुन्तिभोज जी को गोद दे दिया जिससे उनका नाम बाद में कुंती पड़ गया।

कुंती के बाल्यावस्था के समय में महर्षि दुर्वासा जी सम्राट कुंतिभोज के यहां अतिथि होकर आए। सम्राट ने राजकुमारी कुंती को विशेष रूप से उनकी सेवा में लगाया। कुंती ने एक वर्ष तक बड़ी सावधानी और सहनशीलता के साथ महर्षि की सेवा की। महर्षि ने अपनी दिव्यदृष्टि से जान लिया कि कुंती में माँ बनने की क्षमता नहीं है। कुंती की सेवा से प्रसन्न होकर महर्षि दुर्वासा ने उन्हें एक दिव्य मंत्र दिया जिससे वह किसी भी देवता का अगर ध्यान करें तो वह प्रकट होकर उन्हें अपने समान ही तेजस्वी पुत्र प्रदान करेंगे।

उत्सुकतावश, महर्षि दुर्वासा जी के चले जाने के बाद उन्हें यह जानने की इच्छा हुई कि जो मंत्र महर्षि ने दिया है, उसमें कोई सार्थकता है अथवा नहीं। उन्होंने सूर्योदय पर आकाश में भगवान सूर्य को देखा और मंत्र पढ़ कर सूर्यदेव का स्मरण किया। भगवान सूर्य कुंती के सामने प्रगट हो गए। सूर्यदेव के सुंदर एवं तेजवान रूप को देखकर कुंती आकर्षित हो गईं। सूर्यदेव ने कहा, 'कुंती में तुम्हें पुत्र देने आया हूं।'

कुंती घबरा गईं। उन्होंने कहा कि मैं अभी कुंआरी हूं, ऐसे में मैं पुत्रवती नहीं होना चाहती। सूर्यदेव ने कहा कि मंत्र की महिमा को टालने का मुझ मैं सामर्थ्य नहीं अतः

वरदान स्वरूप तुम्हें पुत्र अवश्य प्राप्त होगा जो मेरे ही स्वरुप होगा। अब चूँकि तुम कुंआरी हो, इसके साथ ही मैं तुम्हें वर देता हूं कि तुम्हे पुत्र प्राप्त होने के बाद भी किसी भी तरह का कलंक नहीं लगेगा और तुम्हारा कुँवारित्व मुझ से पुत्र पाने के बाद भी नष्ट नहीं होगा। इस तरह कुंती ने एक सुंदर बालक को जन्म दिया। वह बालक जन्म के समय से ही तेजस्वी और सुंदर था। पुत्र होने के बाद लोक निंदा के डर से कुंती ने उस पुत्र को एक संदूक में रखकर गंगा नदी में बहा दिया। वह संदूक तैरता हुआ अधिरथ नाम के एक सारथी की दृष्टि में पड़ा। उन्होंने जब संदूक खोला तो उन्हें एक बालक मिला। सारथी उस बालक को अपने घर ले गया। सारथी के कोई संतान नहीं थी। उन्होंने इसे अपने दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया। इसी दत्तक पुत्र ने महाभारत के एक मुख्य चरित्र कर्ण की भूमिका निभाई।

कुंती के विवाह योग्य हो जाने पर सम्राट कुंतीभोज ने एक स्वयंवर आयोजित किया जिसमें उस समय के सभी दिग्गज राजाओं ने भाग लिया। कुंती ने इस स्वयंवर में भरत श्रेष्ठ हस्तिनापुर सम्राट पाण्डु को वरमाला पहना दी और उनसे विवाह कर हस्तिनापुर आ गईं।

दैवीय पुत्रों (पांडवों) की प्राप्ति

कुंती-पाण्डु विवाह उपरान्त महाज्ञानी पितामह भीष्म कुंती से प्रथम साक्षात्कार में ही उसके माँ बनने की असमर्थता की बात समझ गए। अतः हस्तिनापुर वंश को आगे बढ़ाने के लिए उनके मष्तिष्क में पाण्डु के दूसरे विवाह के विचार आने लगे।

प्राचीन काल में रावी तथा व्यास नदी के बीच के दोआब का भाग 'मद्र' कहलाता था, जो आजकल पंजाब प्रान्त में स्थित है। उन दिनों शाकल मद्र देश की राजधानी थी। इस देश की राजकन्या का नाम माद्री था। राजकुमारी माद्री परम रुपवती थींथीं। इनकी सुन्दरता की प्रशंसा सुन पितामह भीष्म ने सम्राट शल्य के यहॉं जा कर इन्हें सम्राट पाण्डु के लिए मॉंगा। सम्राट शल्य के यहॉं यह नियम था कि वर पक्ष से अत्यधिक धन सम्पति लेकर लड़की दी जाती थी, अतएव पितामह भीष्म को उनकी प्रथा के अनुसार कन्या के शुल्क के रुप में बहुत सा धन देना पडा था। तब उस देश की रीति रिवाज के अनुसार सम्राट शल्य ने भी आभूषणों आदि से अलंकृत कर राजकुमारी माद्री को पितामह भीष्म के हाथों सौंप दिया। बाद में पितामह भीष्म ने हस्तिनापुर में आ कर शुभ दिन तथा शुभ मुहूर्त में सम्राट पाण्डु से इनका विवाह किया।

राजकुमारी माद्री से सम्राट पाण्डु का विवाह महारानी कुंती के लिए एक गहरे सदमे के रूप में आया। लेकिन महारानी कुंती का व्यक्तित्व इतना महान था कि उन्होंने राजकुमारी माद्री को अपनी बहन के स्वरुप में स्वीकार किया।

अपने वैवाहिक जीवन के कुछ प्रारम्भिक आनंदमय क्षण माद्री के साथ महारानी कुंती हस्तिनापुर में बिता रहीं थीं तभी एक दिन सम्राट पाण्डु का ह्रदय वन आखेट करने को हुआ। महारानी कुंती एवं माद्री के साथ सम्राट पाण्डु वन में आखेट के लिए गए। जब सम्राट पाण्डु आखेट को निकले, वहां उन्हें हिरण का एक जोड़ा दिखाई दिया। सम्राट पाण्डु ने निशाना साधकर उन पर पञ्च बाण मारे जिससे हिरण घायल हो गए। वास्तव में वह हिरण महर्षि किंदम नामक एक महर्षि थे जो अपनी पत्नी के साथ विहार कर रहे थे। तब किंदम महर्षि ने अपने वास्तविक स्वरूप में आकर सम्राट पाण्डु को श्राप दिया, 'तुमने अकारण मुझ पर और मेरी तपस्विनी पत्नी पर बाण चलाए हैं जब हम विहार कर रहे थे, अतः जब तुम अपनी पत्नी के साथ सहवास करोगे तो उसी समय तुम्हारी मृत्यु हो जाएगी तथा वह पत्नी तुम्हारे साथ सती हो जाएगी।'

इतना कहकर किंदम महर्षि ने अपनी पत्नी के साथ प्राण त्याग दिए। महर्षि की मृत्यु होने पर सम्राट पाण्डु को बहुत दुःख हुआ। महर्षि की मृत्यु का प्रायश्चित करने के उद्देश्य से सम्राट पाण्डु ने सन्यास लेने का विचार किया। जब महारानी कुंती व माद्री को यह पता चला तो उन्होंने सम्राट पाण्डु को समझाया कि वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए भी आप प्रायश्चित कर सकते हैं। सम्राट पाण्डु को यह सुझाव ठीक लगा और उन्होंने वन में रहते हुए ही तपस्या करने का निश्चय किया। सम्राट पाण्डु ने ब्राह्मणों के माध्यम से यह संदेश हस्तिनापुर भी भेजा। यह सुनकर हस्तिनापुर वासियों को बड़ा दुःख हुआ। तब पितामह भीष्म ने धृतराष्ट्र को राजा बना दिया। उधर सम्राट पाण्डु अपनी पत्नियों के साथ गंधमादन पर्वत पर जाकर मुनियों के साथ साधना करने लगे।

सम्राट पाण्डु इस समय तक निःसंतान थे। महर्षि कदम्ब के श्राप के कारण वह पुत्र प्राप्ति में असमर्थ थे। पुत्र प्राप्ति की उनकी तीव्र इच्छा ने उन्हें महारानी कुंती एवं माद्री के समक्ष नियोग से पुत्र प्राप्त करने की संभावनाओं पर विचार करने को विवश किया।

नियोग से पुत्र पाने की पांडु की बातें सुन कर महारानी कुंती ने विवाह से पहले दुर्वासा मुनि से प्राप्त मंत्र की चर्चा की। उन्होंने कहा, 'अपने पिता के घर में उनके अतिथियों का सत्कार मेरा दायित्व होता था। व्रती और तपस्वी ब्राह्मणों की सेवा मैं स्वयं करती थी। एक बार मेरी सेवा सत्कार से संतुष्ट हो दुर्वासा मुनि ने किसी भी देवता का सफल आह्वान करने के लिए एक मंत्र मुझे दिया था। मुनि ने मंत्र देते कहा था कि इस मंत्र को पढ़ते हुए जिस देव का भी तुम स्मरण करोगी, वह तुम्हारे पास चला आएगा, चाहे आने की उस की इच्छा हो या नहीं और तुम्हारी आज्ञा का पालन करेगा। उस देव की कृपा से तुम्हे पुत्र भी प्राप्त होगा। उन तपस्वी ब्राह्मण के वचन असत्य नहीं हो सकते। मैं उस मंत्र से किसी देवता को बुला सकती हूँ। आप आज्ञा दें राजन, मैं किस देव का आह्वान करूँ। आप जो चाहेंगे वही मैं करूँगी।'

यह सुन पांडु ने बहुत प्रसन्न हो कर कहा, 'इस काम के लिए मुझे धर्मराज सब से उपयुक्त देव लग रहे हैं। सभी देवताओं में वह सब से अधिक धर्म परायण हैं। उन से जो पुत्र मिलेगा वह सभी कुरुओं में सब से अधिक धार्मिक होगा। धर्म और नैतिकता के देवता से उत्पन्न हमारे उस पुत्र का हृदय सदैव पवित्र रहेगा। इस शुभ कार्य में महारानी कुंती विलंब नहीं करो। आज ही देवी पुत्र प्राप्ति की मेरी इच्छा को तुम पूरी कर दो।'

पांडु का मन जान कर महारानी कुंती ने धर्मराज का नमन किया और उनकी प्रदक्षिणा कर उनकी आज्ञा के पालन में लग गईं। यह वही काल था जब सम्राट धृतराष्ट्र की पत्नी गांधारी को गर्भ धारण किए एक वर्ष हो चुका था, तभी कुंती ने भी पुत्र प्राप्ति के लिए धर्मराज का आह्वान किया। धर्मराज का नमन कर कुंती ने दुर्वासा के दिए मंत्र को पढ़ना प्रारंभ किया। मंत्र की शक्ति से धर्मराज अपने स्वर्ण रथ में कुंती के पास खिंचे चले आया और मुस्कुराते हुए उन्होंने ने पूछा, 'कुंती, बोलो तुम क्या चाहती हो?' कुंती ने भी मुस्कुराते हुए कहा, 'हे प्रभु, पुत्र।'

धर्मराज के वरदान से कार्तिक शुक्ल पञ्चमी के दिन अभिजीत मुहूर्त (आठवें मुहूर्त) में पांडु के प्रथम पुत्र का जन्म हुआ। जन्म काल में ज्येष्ठ और चंद्रमा लग्न में थे। उस शिशु के जन्म लेते ही गंभीर आकाशवाणी हुई, 'यह बालक अद्वितीय धार्मिक होगा। अपनी अप्रतिम सत्य निष्ठा से यह पृथ्वी पर राज करेगा और तीनो लोकों में पांडु का यह पहला पुत्र युधिष्ठिर के नाम से जाना जाएगा।'

धार्मिक पुत्र प्राप्त कर लेने के बाद पांडु ने कुंती से एक बलवान पुत्र लाने को कहा क्योंकि विद्वानों के अनुसार क्षत्रिय का सबल होना आवश्यक है। यह सुन कुंती ने वायु का आह्वान किया। मंत्र के प्रभाव से अपने मृग पर आसीन शक्तिशाली पवन देव ने उस के पास पहुँच कर पूछा, 'बोलो कुंती, तुम्हे क्या चाहिए?'

सलज्ज स्वर में कुंती ने उनसे एक अप्रतिम बलवान पुत्र की माँग की जो किसी का भी दर्प चूर कर सके। पवन देव ने अपने वरदान से उन्हें पुत्र दिया जिसका नाम भीम हुआ। भीम के जन्म के तुरंत बाद कुंती की कुटिया में एक बाघ घुस आया था। बाघ देख कुंती घबड़ा कर उठ खड़ी हुईं जिस से उन की गोद से नवजात भीम नीचे गिर पड़े। कुटिया पर्वत पर बनी थी किंतु पत्थरों पर गिरने से भीम को तो कुछ नहीं बिगड़ा, बस वह पत्थर चूर्ण हो गया था। इसी दिन हस्तिनापुर में दुर्योधन का भी जन्म हुआ था।

वृकोदर (भीम) के जन्म के बाद पांडु ऐसा पुत्र चाहने लगा जिस की शक्ति और जिस के चरित्र की ख्याति तीनो लोकों में फैले। संसार में सब कुछ प्रारब्ध और पुरुषार्थ के मिलने से ही हो पाता है। पुत्र के प्रारब्ध को बल करने के लिए उन्होंने देवेन्द्र से पुत्र पाने की सोची।

वह कुंती से बोले, 'हे महारानी, देवेन्द्र अतुल शक्तिवान हैं। उनके वरदान से मैं एक अतुल शक्ति वाला पुत्र पा सकूँगा। उन का दिया पुत्र सभी मानवों और मानवेतर प्राणियों को पराजित कर सकेगा। कृपया आप उनकी आराधना कर वरदान स्वरुप उनसे पुत्र मांगे।’

पति की इच्छा रखते हुए तब कुंती ने एक वर्ष तक मांगलिक व्रत रखा। एक वर्ष तक एक पैर पर खड़े हो कर कठोर तप से इंद्र को उन्होंने प्रसन्न किया।

तपस्या से प्रसन्न हो इंद्र प्रकट हुए और उन्होंने अपने वरदान से ऐसा ही पुत्र प्रदान किया। इंद्रदेव बोले, 'हे कुंती, यह पुत्र भगवद प्रिय होगा। इसकी ख्याति विश्व में फैलेगी। यह ब्राह्मणों, गौओं और सत्यनिष्ठ व्यक्तियों के हितों की रक्षा करते हुए सभी शत्रुओं का नाश करेगा।'

इंद्र के वचन सुन पांडु ने कुंती से कहा, 'तुम्हारा व्रत सफल हुआ। देवेन्द्र प्रसन्न हैं और जैसा हम चाहते हैं, वैसा ही पुत्र हमें मिलेगा। वह महात्मा, सूर्य के समान तेजस्वी, पराक्रमी, युद्ध में अपराजेय और सुदर्शन स्वरुप होगा।'

इस प्रकार इंद्र के वरदान से कुंती को अर्जुन की प्राप्ति हुई। उनके जन्म के समय मेघ गर्जन के समान आकाशवाणी हुई, जिसे पांडु और उस पर्वत पर रहने वाले सभी तपस्वियों ने सुना था।

'हे पाण्डु और कुंती सुनो, तुम्हारा यह पुत्र, कार्तवीर्य और शिबि के समान पराक्रमी और इंद्र के समान अदम्य होगा। यह तुम्हे उतना ही आनंद देगा जितना कभी विष्णु ने (अपनी माता) अदिति को दिया था। मद्र, कुरू, केकेय, चेदि, काशी, करुष आदि सभी राष्ट्रों को अपने अधीन कर यह कुरू वंश की विजय पताका पूरे विश्व में लहराएगा। खांडव वन के प्राणियों की वसा से यह अग्नि को संतुष्ट करेगा। अपने भाईयों के साथ यह तीन महान यज्ञ करेगा। शक्ति में यह जमदाग्नि पुत्र या विष्णु के भी समतुल्य होगा और अपने पराक्रम से यह देवाधिदेव शंकर को भी प्रसन्न कर उनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करेगा। इंद्र की आज्ञा से यह महाबाहु देवताओं के शत्रु निवटकवच दैत्यों का नाश करेगा। सभी दिव्य शस्त्रास्त्र प्राप्त कर यह अपने वंश की भाग्य लक्ष्मी को पुनर्जागृत कर पाएगा।'

अदृश्य नाद वाद्यों की ध्वनि से पूरा पर्वत क्षेत्र गूंजने लगा। आकाश से पुष्प वृष्टि होने लगी और इंद्र समेत सभी देव आकाश में उस बालक को देखने एकत्रित हो गए। उसे सम्मानित करने कद्रू पुत्र, विनता पुत्र, भरद्वाज, कश्यप, गौतम, विश्वामित्र, जमदाग्नि, वशिष्ठ और अत्रि भी वहाँ आकाश में प्रकट हुए। साथ में मरीचि, अंगिरस, पुलत्स्य, पुलह, क्रतु, दक्ष प्रजापति भी थे। तुंबरू और गंधर्व गायन करने लगे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं। व्योम में बारहो आदित्य, ग्यारहो रुद्र, अठो वसु, दोनो अश्विनिकुमार, मरुतगण, विश्वदेव और साध्य प्रकट हुए। सभी दिव्य प्राणी अदृश्य रूप में आए थे किंतु पर्वत पर रहने वाले महान तपस्वी उन्हे देख पा रहे थे। यह अद्भुत दृश्य देख कर उन तपस्वियों के हृदय में पांडु के पुत्रों के लिए और अधिक प्रेम उमड़ने लगा।

अर्जुन के जन्म के कुछ समय बाद पांडु ने कुंती से दो और पुत्र की कामना की। किंतु कुंती इस के लिए तैयार नहीं थी क्योंकि ज्ञानियों ने विपत्ति में भी चार प्रसव की अनुशंसा नहीं की है।

कुंती के तीन और गांधारी के सौ पुत्रों के जन्म लेने के बाद एक दिन माद्री ने एकांत में पांडु से कहा, 'आर्यपुत्र मैं अभी भी निःसंतान हूँ। यदि पृथा मुझे भी माँ बनने का एक अवसर दे दें तो मैं बहुत अनुगृहीत होंगी। यदि राजन, मेरा कल्याण चाहते हो तो कुंती से कह कर मेरी इच्छा पूरी करा दो।'

पांडु ने कहा, 'मैं भी इस पर सोचता रहा हूँ पर तुम्हारी इच्छा होगी अथवा नहीं, मैं नहीं जानता था। अब मैं तुम्हारी इच्छा जान गया हूँ। मुझे विश्वास है कुंती मेरे अनुरोध को नहीं ठुकराएंगी।'

उसके कुछ दिनों के बाद पांडु ने एकांत में कुंती से अपने वंश के विस्तार के लिए कुछ और पुत्र माँगे। उन्होंने कहा, 'कुछ ऐसा करो देवी कि तुम्हें, मुझे, और हमारे पूर्वजों को सदैव पिन्ड मिलते रहें। जैसे अनंत ख्याति पाने के बाद भी इंद्र और अधिक ख्याति के लिए यज्ञ करते रहते हैं या जैसे सभी वेद वेदांगों को पढ़ लेने के बाद भी ब्राह्मण और अधिक ख्याति के लिए अपने गुरुओं के पास अध्ययन करते रहते हैं, वैसे ही माद्री को निःसंतान रहने से बचा कर तुम भी चिरजीवि ख्याति प्राप्त करो।'

पांडु के वचन सुन कर कुंती तुरंत तत्पर हुईं और माद्री से बोलीं, ‘हे माद्री, तुम जिस किसी भी देव का स्मरण करोगी, उन्हीं के समान तुम्हें पुत्र प्राप्ति होगी।'

कुंती का आभार प्रकट करते हुए तब उन्होंने अश्विनिकुमारों का स्मरण किया। उनके वरदान से उन्हें दो पुत्र, नकुल और सहदेव, प्राप्त हुए।

इस तरह पांडु को देवताओं के वरदान से पाँच पुत्र प्राप्त हुए। सभी मांगलिक चिह्न धारण किए हुए पाँचो भाई चंद्रमा के समान सुदर्शन और सिंह के समान आत्माभिमानी थे। शतशृंग पर रहने वाले महर्षियों ने उनके सभी शास्त्रोक्त संस्कार कराए और पाँचो भाई उन महर्षियों और महर्षि पत्नियों के प्रिय कृपा पात्र बन कर किसी जलाशय में उगे कमल पुष्पों की तरह शीघ्रता से बढ़ने लगे।

एक दिन माद्री को स्नान करते देख पाण्डु कामारक्त हो गए तथा रति सुख को व्याकुल हो उठे। पति की इस अवस्था को देख माद्री भी रति हो गईं और रत होने लगी, परन्तु पाण्डु महर्षि कदम्ब के श्राप के कारण स्नायु तंत्र की कमजोरी को संभाल नहीं पाए और उनके प्राण पखेरू उड़ गए। तत्पश्चात माद्री भी अपने पति की मृत्यु का दोषी स्वयं को मानते हुए राजा पाण्डु के साथ सती हो गईं। अब माता कुंती के कंधो पर पांचों पांडवों का भार आ गया। उन्होंने न केवल अपने पुत्रों का लालन पालन किया, अपितु माद्री के पुत्रों को भी स्नेह युक्त ममता दी।

माता कुंती उन माताओ में से हैं जिन्होंने अपने पुत्रों को न केवल वीरता का पाठ पढाया अपितु उन्होंने अपने पुत्रों को सदैव मानवता और न्याय का मार्ग भी दिखलाया। यूँ तो माता कुंती का अधिकांश जीवन वनों, पहाड़ों, गुफाओ, कंदराओ और आश्रमों में व्यतीत हुआ, परन्तु इतना सब होते हुए भी उन्हें कभी वैभव से आसक्ति नहीं हुई और न ही उन्होंने अपने पुत्रों को इन सभी संसाधनों से आसक्ति होने दी। ऐसा व्यक्तित्व था माँ कुंती का।

महाराज पाण्डु की मृत्यु के बाद सभी वनवासी मुनियों के अनुरोध पर महारानी कुंती अपने पाँचों पांडव पुत्रों को लेकर हस्तिनापुर आ गईं। पितामह भीष्म ने उन्हें पाण्डु पुत्र राजकुमारों के रूप में स्वीकार अवश्य किया लेकिन कौरवों ने जो दुःख पांडवों पर

ढाये, उस से समस्त विश्व अवगत है। इतने दुःख सहने पर भी जहाँ तक कुंती माँ का बस चला उन्होंने सम्राट धृतराष्ट्र और उनके पुत्र कौरवों का कभी अहित नहीं चाहा।

माँ कुन्ती ने सदैव परमात्मा से प्रेम के रसमयी प्रकरण को सुना, समझा और मनन किया। माँ कुन्ती ने परमात्मा से मांगा कि हमारे जीवन में निरन्तर विपत्तियां आती रहें क्योंकि विपदाओं में निश्चित रूप से परमात्मा का चिन्तन होता है और तभी भगवान् का दर्शन होता है। दुःख की स्थिति में मनुष्य परमात्मा के निकट पहुंच जाता है। इसका कारण है कि जब दुःख का समय होता है तो जितने भौतिकवादी जगत के सम्बन्धी होते हैं, वह हमसे दूर रहते हैं। विपत्तियों के समय हम स्वयं भोग से दूर रहते हैं अतः परमात्मा-चिन्तन अधिक हो पाता है। दुःख में भगवान के पास जाने का मन करता है। सुख के समय तो परमात्मा के पास जाने का ही नहीं होता है।

माँ कुंती ने वरदान स्वरुप भगवान कृष्ण से विपत्तियां ही माँगी।

विपदः सन्तु ताः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।।
भवतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्।।

यह सुन स्वयं भगवान् कृष्ण व्यथित होकर बोले, 'बुआ क्या मांग रही हो? आपकी बुद्धि तो नहीं चकरा गई है? बुआ, जब से तुमने जन्म लिया तब से क्या सुख मिला है तुम्हें? जन्म के बाद पिता के घर को तुम्हें त्यागना पड़ा। तुम्हारे पिता ने तुम्हें सम्राट कुन्तीभोज को गोद दे दिया था और जब विवाह हुआ तो पति मिले पांण्डु, अर्थात पीलिया के रोगी और उस पर भी उन्हें श्राप मिला कि जब भी विषय वासना की कामना से पत्नी के पास जाएंगे, उनकी तुरन्त मृत्यु हो जाएगी। माता, पिता के घर सुख नहीं मिला। पति के घर सुख नहीं मिला और तो और, पति की जब एक दिन अचानक अपनी दूसरी पत्नी के साथ भोग करने की कामना कर उसी समय मृत्यु हो गई तो पति की मृत्यु के बाद जो कष्ट आपने भोगे उनके बारे में विचार करने से मनुष्य डरता है। कभी आपके पुत्रों को विष देकर मारने का प्रयास किया गया, कभी लाक्षागृह में जलाकर मारने का। कभी वनवास हुआ, कभी अज्ञातवास, तो कभी दुःशासन जैसे अधर्मी ने पवित्र द्रौपदी को निःवस्त्र करने का प्रयास किया। पौत्र अभिमन्यु को अन्याय से पापी कौरवों ने युद्ध में मार दिया। पञ्च अन्य पौत्रों को सोते में छल से अश्वत्थामा ने मार दिया। आपको जीवन में केवल दुःख ही दुःख तो मिले हैं बुआ, और आज फिर

दुःख मांगती हो। बुआ, कितना प्रेम है आपको मुझसे। मेरे स्मरण एवं मेरे दर्शन के लिये दुःख मांगती हो, बुआ। मैं इस प्रेम का ही तो भूखा हूँ।'

यह कह कर भगवान् कृष्ण कुन्ती से लिपट गए। भगवान् कृष्ण और बुआ, दोनों के नेत्र अश्रुओं से भर गए।

माँ कुंती अपना सर भगवान् कृष्ण के कंधे पर रखकर फूट फूट रोती हैं और कहती हैं, ' कन्हैया, यदि तू मेरी और मेरे पुत्रों की सहायता ना करता तो मेरा और मेरे पुत्रों का क्या होता? मेरे इन पञ्च पांडवों के अतिरिक्त तूने छटे पांडव का भी उद्धार किया। उसे वह गति दी जो संभवतः मेरे इन पञ्च पांडव पुत्रों को कभी ना मिल सके। तेरे उपकार मैं कैसे भुला सकती हूँ?'

जब कर्ण, छटे पांडव मृत्युशैया पर लेटे हुए थे तब भगवान कृष्ण उनके पास आए और उनकी दानवीर होने की परीक्षा लेने लगे। जब भगवान कृष्ण ने कर्ण से दान मांगा तो कर्ण ने कहा कि उसके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है। भगवान कृष्ण ने कर्ण से उनका सोने का दांत मांग लिया। कर्ण ने अपने पास पड़े पत्थर को उठाकर उससे अपना दांत तोड़ा और भगवान कृष्ण को दे दिया। कर्ण ने सिद्ध कर दिया कि उनसे बड़ा दानवीर पूरी दुनिया में कोई नहीं है। तब भगवान् कृष्ण ने कर्ण से वरदान मांगने को कहा। कर्ण ने भगवान कृष्ण से कहा कि एक निर्धन सूत पुत्र होने की वजह से उनके साथ बहुत छल हुआ है। भगवान् कृष्ण ने कर्ण से कहा कि वह अपने आप को सूत्र पुत्र ना कहे। वह तो छटा पांडव है।

तब कर्ण ने कहा, 'हे कन्हैया, यदि तुम मुझे वरदान ही देना चाहते हो तो मेरा अंतिम संस्कार आपके ही द्वारा ऐसे स्थान पर हो जहां कोई पाप ना हो।'

पूरी पृथ्वी पर ऐसा कोई स्थान नहीं होने के कारण भगवान कृष्ण ने कर्ण का अंतिम संस्कार अपने ही हाथों पर किया। इस तरह दानवीर कर्ण मृत्यु के पश्चात साक्षात् वैकुण्ठ धाम को प्राप्त हुए। माँ कुंती यह सब स्मरण कर बस रोती ही जाती थीं।

अपने को सम्हाल कर माँ कुंती भगवान कृष्ण की स्तुति करने लगती हैं।

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः।।

कुंती कहती हैं, ‘हे कृष्ण , हे वासुदेव, हे देवकीनंदन, हे नन्द के लाला, हे गोविन्द आपको मेरा प्रणाम!

नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाड़्घ्रये।।

जिनकी नाभि से ब्रह्मा का जन्म स्थान कमल प्रकट हुआ है, जिन्होँने कमलोँ की माला धारण की है, जिनके नेत्र कमल के समान विशाल और कोमल है और जिनके चरणोँ मेँ कमल चिह्न हैँ, ऐसे हे कृष्ण, आपको बार बार वंदन है।

माँ कुंती ने हमें सन्देश दिया:

आराधितो यदि हरिस तपसा ततः किं।

यदि तुम भगवान् कृष्ण की पूजा करने में सक्षम ह, तो कोई अन्य अधिक तपस्या की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि स्वरूप सिद्ध होना या भगवान को जानने के लिए इतनी सारी प्रक्रियाऍ, तपस्याएं ही हैं। कभी कभी हम विचार करते हैं कि भगवान कहॉ हैं? यह जानने के लिए विभिन्न प्रक्रियाऍ हैं। लेकिन शास्त्र कहते हैं कि वास्तव में अगर तुम कृष्ण की पूजा कर रहे हो तो तुम्हे गंभीर तपस्या की आवश्यकता नहीं है।

नाराधितो, नाराधितो यदि हरिस तपसा ततः किं।

गंभीर तपस्या के बाद भी कृष्ण को जानना संभव नहीं। माँ कुंती कहती हैं कि यद्यपि कृष्ण भीतर और बाहर सर्व स्थान पर हैं, उन्हें देखने के लिए हमारी आँखें सक्षम नहीं है। भगवान् कृष्ण कुरुक्षेत्र की लड़ाई में उपस्थित थे लेकिन केवल पञ्च पांडव, छटे पांडव कर्ण और पितामह भीष्म और मां कुंती ही समझ सके थे कि कृष्ण पुरुषोत्तम भगवान हैं। और सभी ने तो उन्हें एक साधारण इंसान के रूप में ही समझा।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषिं तनुमाश्रितम्।

यद्यपि वे मानव समाज के प्रति बहुत दयालु थे एवं वह व्यक्तिगत रूप से अवतरित हुए फिर भी उन्हें देखने के लिए लोगो की आँखें सक्षम नहीं थी। वह सत्य नहीं देख सके। इसलिए कुंती कहती हैं, 'अलक्ष्यम्', आप दिखाई नहीं देते हो।

आप अंतः बहिः सर्व भूतानाम्।

माँ कुंती का सन्देश था कि हर किसी के हृदय में भगवान् कृष्ण स्थित हैं।

ईष्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे।

हृद्देशे, हृदय में कृष्ण हैं। इसलिए, ध्यान, योग सिद्धांत आदि का एक मात्र मूल्य उद्देश्य होना चाहिए कि कैसे हृदय के भीतर कृष्ण का पता लगाऍ। यही ध्यान की मुख्य परिभाषा है। भगवान् कृष्ण की स्थिति हमेशा उत्कृष्ट है। अगर हम इस दिव्य प्रक्रिया, कृष्ण भावनामृत को स्वीकार करते हैं तो विधि विधानों की भी आवश्यकता नहीं और इस प्रकार पापमय जीवन से मुक्त होने का प्रयास कर सकते हैं। भगवान् कृष्ण को तुम तब तक ना ही देख सकते हो, ना ही पा सकते हो, जब तक तुम पाप कार्य रत हो।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।

ऐसी सत्य मार्गा, अत्यंत सहनशील भगवान् कृष्ण की प्रिय भक्त माँ कुंती क्यों ना प्रातः स्मरणीय हों? महर्षि वेद व्यास जी ने माँ कुंती को यह आसन देकर हम सब को शिक्षा प्रदान की है, माँ कुंती के समान सत्य व्रत धारण करने वाले सहनशील एवं भगवद्भक्त बनने की।

पञ्चम पञ्चकन्या – द्रौपदी

जन्म एवं विवाह

महाभारत की नायिका द्रौपदी भी पञ्चकन्याओं में से एक हैं और प्रातः स्मरणीय एवं पूजनीय हैं। पञ्च पतियों की पत्नी बनने वाली द्रौपदी का व्यक्तित्व उदाहरण स्वरुप है। द्रौपदी को महर्षि वेद व्यास ने यह वरदान दिया था कि पांचों भाईयों की पत्नी होने के बाद भी उनका कौमार्य सदैव रहेगा।

द्रौपदी का जन्म भगवान् शंकर एवं भगवान् कृष्ण की इच्छा एवं वरदान से द्वापर युग में अधर्मीयों का विनाश करने के लिए एवं धर्म स्थापित करने के लिए हुआ था। अपने समस्त जीवन में माँ कुंती की तरह उन्होंने हर प्रकार से धर्म का पालन किया, अधर्मियों के विनाश का कारण बनी और अंत में अपने पतियों के साथ मोक्ष प्राप्ति की।

महाभारत ग्रंथ के अनुसार एक बार राजा द्रुपद ने कौरवो और पांडवों के गुरु द्रोणाचार्य का अपमान कर दिया था। गुरु द्रोणाचार्य इस अपमान को भूल नहीं पाए। इसलिए जब पांडवों और कौरवों ने शिक्षा समाप्ति के पश्चात गुरु द्रोणाचार्य से गुरु दक्षिणा माँगने को कहा तो उन्होंने उनसे गुरु दक्षिणा में राजा द्रुपद को बंदी बनाकर अपने समक्ष प्रस्तुत करने को कहा। पहले कौरव राजा द्रुपद को बंदी बनाने गए पर वो द्रुपद से हार गए। कौरवों के पराजित होने के बाद पांडव गए और उन्होंने द्रुपद को बंदी बनाकर द्रोणाचार्य के समक्ष प्रस्तुत किया। द्रोणाचार्य ने अपने अपमान का बदला लेते हुए द्रुपद का आधा राज्य स्वयं के पास रख लिया और शेष राज्य द्रुपद को देकर उसे स्वतंत्र कर दिया।

गुरु द्रोण से पराजित होने के उपरान्त महाराज द्रुपद अत्यन्त लज्जित हुए और उन्हें किसी प्रकार से नीचा दिखाने का उपाय सोचने लगे। इसी चिन्ता में एक बार वह घूमते हुए कल्याणी नगरी के ब्राह्मणों की बस्ती में जा पहुँचे। वहाँ उनकी भेंट याज तथा उपयाज नामक महान कर्मकाण्डी ब्राह्मण भाईयों से हुई। राजा द्रुपद ने उनकी सेवा करके उन्हें प्रसन्न कर लिया एवं उनसे द्रोणाचार्य के मारने का उपाय पूछा।

उनके पूछने पर बड़े भाई याज ने कहा, 'इसके लिये आप एक विशाल यज्ञ का आयोजन करके अग्निदेव को प्रसन्न कीजिये जिससे कि वे आपको महान बलशाली पुत्र का वरदान दें।'

महाराज ने याज और उपयाज से उनके कहे अनुसार यज्ञ करवाया। उनके यज्ञ से प्रसन्न हो कर अग्निदेव ने उन्हें एक ऐसा पुत्र दिया जो सम्पूर्ण आयुध एवं कवच कुण्डल से युक्त था। उसके पश्चात् उस यज्ञ कुण्ड से एक कन्या उत्पन्न हुई जिसके नेत्र खिले हुए कमल के समान देदीप्यमान थे। भौहें चन्द्रमा के समान वक्र थीं तथा उसका वर्ण श्यामल था। उसके उत्पन्न होते ही एक आकाशवाणी हुई कि इस बालिका का जन्म अधर्मी क्षत्रियों के सँहार के हेतु हुआ है। बालक का नाम धृष्टद्युम्न एवं बालिका का नाम कृष्णा रखा गया जो कि राजा द्रुपद की बेटी होने के कारण द्रौपदी कहलाई।

पौराणिक कथाओं के अनुसार द्रौपदी पूर्व जन्म में एक अत्यंत रूपवती, गुणवती और सदाचारिणी महर्षि कन्या थी। कुछ पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण किसी ने उन्हें पत्नी रूप में स्वीकार नहीं किया। इससे दुखी होकर वह भगवान् शिव की तपस्या करने लगी। उनकी उग्र तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान शिव प्रगट हुए और उन्होंने द्रौपदी से मनचाहा वरदान मांगने के लिए कहा। इस पर द्रौपदी इतनी प्रसन्न हो गई कि उसने पञ्च बार कहा, 'मैं सर्वगुणयुक्त पति चाहती हूं।'

भगवान शंकर ने कहा तूने मनचाहा पति पाने के लिए मुझसे पञ्च बार प्रार्थना की है, अतः तुझे दुसरे जन्म में एक नहीं पञ्च पति मिलेंगे।'

तब द्रौपदी ने कहा मैं तो आपकी कृपा से केवल एक ही पति चाहती हूं। इस पर भगवान् शिवजी ने कहा कि मेरा वरदान तो व्यर्थ नहीं जा सकता। तुझे पञ्च पति ही प्राप्त होंगे लेकिन महर्षि वेद व्यास से तुझे वरदान प्राप्त होगा जिससे तेरा पञ्च पति होने पर भी कौमार्य नष्ट नहीं होगा।

कालान्तर में अग्नि कुंड से द्रुपद गृह में द्रौपदी का जन्म हुआ। जैसे जैसे द्रौपदी युवा होती गईं उनका सौन्दर्य निखरता गया तथा उनकी सुंदरता के चर्चे पूर्ण आर्यावृत में फैल गए। द्रौपदी के विवाह का समय निकट आया। सम्राट द्रुपद चाहते थे कि उनकी पुत्री का विवाह एक ऐसे वीर वर से हो जो उनका बदला द्रोणाचार्य से ले सके। लेकिन द्रोण को पराजित करना सरल नहीं था। वह भगवान् परशुराम के शिष्य एवं स्वयं भी एक बड़े ही वीर योद्धा और अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर थे। बहुत विचार करने के बाद उन्हें अर्जुन ही द्रौपदी के लिए उपयुक्त वर सूझा। लेकिन अभाग्य से उसी समय उन्हें अर्जुन का वारणावत अग्निकांड में मृत्यु का समाचार मिला। इसलिए उन्होंने दूसरे

योद्धाओं के बारे में विचार किया। तब उनका ध्यान यादवों के एक छत्र नेता कृष्ण की ओर गया जो अपने अनेक महान् वीरता पूर्ण कार्यों से आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ योद्धा के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे।

उन्होने कृष्ण को पांचाल आमंत्रित किया और उनके आने पर उनसे अपनी पुत्री द्रौपदी का पाणिग्रहण करने की प्रार्थना की। उस समय तक द्रौपदी आर्यावर्त की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी। उनसे विवाह करके कोई भी राजा या राजकुमार स्वयं को धन्य मानता। लेकिन कृष्ण ने उनकी पुत्री के साथ विवाह करने से विनम्रता पूर्वक मना कर दिया क्योंकि वह द्रौपदी को भगवान् शिव शंकर के दिए वरदान के बारे में जानते थे। उन्हें पता था कि द्रौपदी का जन्म तो पञ्च पांडवों को पति के रूप में प्राप्त होने एवं अधर्मी क्षत्रियों के विनाश होने का कारण मूल के लिए हुआ है।

कृष्ण के अस्वीकार से द्रुपद बहुत निराश हुए। उनकी निराशा को देखते हुए कृष्ण ने उनसे कहा कि मैं द्रौपदी को बहन के रूप में देखता हूँ और एक भाई की तरह उसके योग्य सर्वश्रेष्ठ वर का चुनाव करने में आपकी सहायता करना चाहता हूँ। द्रुपद ने उनको बताया कि वे आर्यावर्त के सर्वश्रेष्ठ योद्धा या धनुर्धर के साथ ही द्रौपदी का विवाह करना चाहते हैं ताकि वह द्रोण को पराजित करके उनके अपमान का बदला चुका सके। भगवान् कृष्ण जानते थे कि पांडव जीवित बच गए हैं लेकिन उन्होंने द्रुपद को यह बात नहीं बताई। उन्होंने द्रुपद को सलाह दी कि द्रौपदी के स्वयंवर में धनुर्वेद की एक बहुत कठिन प्रतियोगिता रखें। जो उस प्रतियोगिता में विजयी होगा, वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होगा। उसके साथ द्रौपदी का विवाह करने पर द्रुपद की इच्छा पूरी हो सकती है। द्रुपद को उनकी सलाह अच्छी लगी और फिर उन्होंने एक प्रतियोगिता का आयोजन किया।

कुंती तथा पांडवों ने द्रौपदी के स्वयंवर के विषय में सुना तो वह भी सम्मिलित होने के लिए धौम्य को अपना पुरोहित बनाकर पांचाल देश पहुंचे। कौरवों से छुपने के लिए उन्होंने ब्राह्मण वेश धारण कर रखा था। वह वहां एक कुम्हार की कुटिया में रहने लगे।

राजा द्रुपद द्रौपदी का विवाह अर्जुन के साथ करना चाहते थे। लाक्षागृह की घटना सुनने के बाद भी उन्हें यह विश्वास नहीं होता था कि पांडवों का निधन हो गया है। अत: द्रौपदी के स्वयंवर के लिए उन्होंने यह शर्त रखी कि निरंतर घूमते हुए यंत्र के छिद्र में

से जो भी वीर निश्चित धनुष की प्रत्यंचा पर चढ़ाकर दिये गए पञ्च बाणों से छिद्र के ऊपर लगे लक्ष्य को भेद देगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह कर दिया जायेगा। वह जानते थे कि इतनी कठिन परिक्षा में केवल अर्जुन ही सफल हो सकते हैं। ब्राह्मण वेश में पांडव भी स्वयंवर स्थल पर पहुंचे। कौरव आदि अनेक राजा तथा राजकुमार तो धनुष की प्रत्यंचा के धक्के से भूमिसात हो गए। कर्ण ने धनुष पर बाण चढ़ा तो लिया, किंतु कृष्ण का संकेत समझकर द्रौपदी ने सूत पुत्र कर्ण से विवाह करने से मना कर दिया। अत: कर्ण द्वारा लक्ष्य भेदने का प्रश्न ही नहीं उठा। अर्जुन ने छद्मवेश में पहुंचकर लक्ष्य भेद दिया तथा द्रौपदी को प्राप्त कर लिया। कृष्ण उसे देखते ही पहचान गए। शेष उपस्थित राजाओं में यह विवाद का विषय बन गया कि एक क्षत्रिय कन्या ब्राह्मण को क्यों दी जाय? अर्जुन तथा भीम के रण कौशल तथा कृष्ण की नीति से शांति स्थापित हुई तथा अर्जुन और भीम द्रौपदी को लेकर डेरे पर पहुंचे। उनके माँ कुंती से यह कहने पर कि वे लोग भिक्षा लाये हैं, उन्हें बिना देखे ही कुंती ने कुटिया के अंदर से कहा कि सभी मिलकर उसे ग्रहण करो। पुत्रवधू को देखकर अपने वचनों को सत्य रखने के लिए कुंती ने पांचों पांडवों को द्रौपदी से विवाह करने के लिए कहा। द्रौपदी का भाई धृष्टद्युम्न उन लोगों के पीछे पीछे छुपकर आया था। वह यह तो नहीं जान पाया कि वह सब कौन हैं पर स्थान का पता चलाकर पिता की प्रेरणा से उसने उन सबको अपने घर पर भोजन के लिए आमन्त्रित किया। द्रुपद को यह जानकर कि वह पांडव हैं बहुत प्रसन्नता हुई, किंतु यह सुनकर विचित्र लगा कि वह पांचों पांडव द्रौपदी से विवाह करने जा रहे हैं। तभी व्यास मुनि ने अचानक प्रकट होकर एकांत में द्रुपद को उन छहों के पूर्व जन्म की कथा सुनाई। एक वार रुद्र ने पञ्च इन्द्रों को उनके दुरभिमान स्वरूप यह श्राप दिया था कि वह मानव रूप धारण करेंगे। उनके पिता क्रमश: धर्म, वायु, इन्द्र तथा अश्विनीकुमार (द्वय) होंगे। भूलोक पर उनका विवाह स्वर्ग लोक की लक्ष्मी के मानवी रूप से होगा। वह मानवी द्रौपदी है तथा वह पांचों इन्द्र पांडव हैं। व्यास मुनि के व्यवस्था देने पर द्रौपदी का विवाह क्रमश: पांचों पांडवों से कर दिया गया। इस तरह से पांचो पांडवो से विवाह करके द्रौपदी पांचाली कहलाई।

इस योजना के सफल होने के कारण द्रुपद कृष्ण का बहुत सम्मान करते थे और उनकी पुत्री द्रौपदी भी कृष्ण को अपने सगे बड़े भाई जितना प्यार और सम्मान देती थी।

भगवान् कृष्ण की अत्यंत भक्ता

बाद में कृष्ण ने अपनी सगी बहन सुभद्रा का विवाह अर्जुन से कराया तो स्वाभाविक रूप से सबको यह चिन्ता हुई कि द्रौपदी अपनी सौत को किस प्रकार स्वीकार करेगी। इसका समाधान करने के लिए कृष्ण की सलाह पर ही सुभद्रा ने द्रौपदी को अपना परिचय अर्जुन की पत्नी के बजाय कृष्ण की बहन के रूप में दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह दोनों सदैव सगी बहनों की तरह प्रेम और सद्भाव के साथ रहीं। कृष्ण और द्रौपदी का सम्बंध एक आदर्श भाई-बहन की तरह सदैव बना रहा। द्रौपदी उनके ऊपर बहुत विश्वास करती थी और उनकी सलाह पर चलती थी। कृष्ण भी हर संकट के समय उनकी सहायता करते थे, जैसा कि महाभारत से पता चलता है।

द्रौपदी पञ्च पांडवों से पञ्च पुत्रों की माता बनी थी। उनके पञ्च पुत्रों के नाम थे, युधिष्ठिर से 'प्रतिविंध्य', भीम से 'श्रुतसोम', अर्जुन से 'श्रुतकर्मा', नकुल से 'शतानीक' एवं सहदेव से 'श्रुतसेन'।

द्रौपदी उच्च कोटि की पतिव्रता एवं भगवद भक्ता थी। उन की भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में अविचल प्रीति थी। वह उन्हें अपना सखा, रक्षक, हितैषी एवं परम आत्मीय तो मानती ही थी, उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता में भी उनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवों की सभा में दुष्ट दु:शासन ने द्रौपदी को नग्न करना चाहा और सभासदों में से किसी का साहस न हुआ कि इस अमानुषी अत्याचार को रोके, उस समय अपनी लाज बचाने का कोई दूसरा उपाय न देखकर उसने अत्यन्त आतुर होकर भगवान श्रीकृष्ण को पुकारा।

गोविन्दो द्वारकावासिन् कृष्णी गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नांथ मामुद्धरस्व जनार्दन।।
कृष्णर कष्ण् महायोगिन्विश्वातिमन विश्व भावन।
प्रपन्नांम पाहि गोविन्द कुरुमध्येशअवसीदतीम।।

‘हे गोविन्द, हे द्वारकावासी, हे सच्चिदानन्द स्वरूप प्रेमघन, हे गोपीजनवल्लभ, हे केशव, मैं कौरवों के द्वारा अपमानित हो रही हूँ, इस बात को क्या आप नहीं जानते? हे नाथ, हे रमानाथ, हे व्रजनाथ, हे आर्तिनाशन जनार्दन, मैं कौरव समुद्र में डूब रही हूँ। आप मुझे इससे निकालिये। कृष्ण, कृष्णे, महायोगी, विश्वात्मा, विश्व के जीवनदाता गोविन्द, मैं कौरवौ से घिरकर बडे संकट में पडी हुई हूँ, आपकी शरण में हूँ, मेरी रक्षा कीजिए।’

सच्चे हृदय की करुण पुकार भगवान तुरंत सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारका में थे। वहाँ से वे तुरंत दौड़े आए और धर्मरूप से द्रौपदी के वस्त्रों के रूप में प्रकट होकर उनकी लाज बचायी। भगवान की कृपा से द्रौपदी की साड़ी अनन्त गुना बढ़ गईं। दु:शासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते ही देखते वहाँ वस्त्र का ढेर लग गया। महाबली दुःशासन की दस सहस्त्र हाथियों वाली प्रचण्ड भुजाएं थक गईं, परन्तु साड़ी का छोर हाथ नहीं आया।

दस सहस्त्र गज बल थक्यौ, घट्यौ न दस गज चीर।

वहाँ उपस्थित सारे सभाजनों ने भगवद्भक्ति एवं पतिव्रता का अद्भुत चमत्कार देखा। अन्त में दुःशासन हारकर लज्जित होकर बैठ गया। भक्त वत्सल प्रभु ने अपने भक्त की लाज रख ली।

भगवान् कृष्ण ने द्रौपदी को अनन्य भक्त मानते हुए उनके कभी भी स्मरण करने पर सहायता का वचन दिया और निभाया भी।

एक समय की बात है। पांडव द्रौपदी के साथ काम्यभक वन में निवास कर रहे थे। दुर्योधन के भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस सहस्त्र शिष्यों को साथ लेकर पांडवों के पास आए। दुष्ट दुर्योधन ने जान बूझकर उन्हें ऐसे समय भेजा जब सब लोग भोजन कर विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर ने अतिथि सेवा के उद्देश्य से ही भगवान सूर्यदेव से एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था जिसमें पकाया हुआ थोड़ा सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। परंतु उसमें शर्त यह थी कि जब तक द्रौपदी भोजन नहीं कर चुकती थी, तभी तक उस बर्तन में यह चमत्कार रहता था। युधिष्ठिर ने महर्षि को

शिष्यमण्डली के सहित भोजन के लिये आमन्त्रित किया। दुर्वासा जी स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त होने के लिये सबके साथ गंगा तट पर चले गए।

दुर्वासा जी के साथ दस सहस्त्र शिष्यों का एक पूरा का पूरा विश्वविद्यालय चला करता था। धर्मराज ने उन सबको भोजन का निमन्त्रण तो दे दिया और महर्षि ने उसे स्वीकार भी कर लिया, परन्तु किसी ने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी हैं, इसलिये सूर्य के दिये हुए बर्तन से उन लोगों के भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकती। द्रौपदी बड़ी चिन्ता में पड़ गईं। उन्होंने सोचा, महर्षि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वह बिना श्राप दिये नहीं मानेंगे। उनका क्रोधी स्वभाव जगत विख्यात था। द्रौपदी को और कोई उपाय नहीं सूझा। तब उन्होंने मन ही मन भक्त भय भंजन भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण किया और इस आपत्ति से उबारने की उनसे विश्वासपूर्ण प्रार्थना करते हुए अन्त में कहा, 'आपने जैसे सभा में दु:शासन के अत्याचार से मुझे बचाया था, वैसे ही यहाँ भी इस महान संकट से तुरंत बचाइये।'

दु:शासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव संकटादस्मान्मीयुत्र्तुमिहार्हसि।।

श्री कृष्ण तो सदा सर्वत्र निवास करते और घट घट की जानने वाले हैं। वह तुरंत वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदी के शरीर में मानो प्राण लौट आए। डूबते हुए को मानो सच्चा सहारा मिल गया। द्रौपदी ने संक्षेप में उन्हें सारी बात सुना दी। श्री कृष्ण ने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा, 'सखी, और सब बात पीछे होगी पहले मुझे जल्दी से कुछ खाने को दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूर से थका आया हूँ।'

द्रौपदी लाज के मारे गड़ सी गईं। उन्होंने रुकते रुकते कहा, 'प्रभो, मैं अभी अभी भोजन कर उठी हूँ। अब तो उस बर्तन में कुछ भी नहीं बचा है।'

श्री कृष्ण ने कहा, 'तनिक अपना बर्तन मुझे दिखाओ तो सही।'

कृष्णा उसे ले आईं। श्री कृष्ण ने हाथ में लेकर देखा तो उसके गले में उन्हें एक साग का पत्ता लगा हुआ मिला। उन्होंने उसी को मुंह में डालकर कहा, ‘इस साग के पत्ते से सम्पूर्ण जगत के आत्मा, यज्ञ भोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।’

इसके बाद उन्होंने सहदेव से कहा, ‘भैया, अब तुम मुनीश्वरों को भोजन के लिये बुला लाओ।’

सहदेव ने गंगा तट पर जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्री कृष्ण ने साग का पत्ता मुंह में डाल कर वह संकल्प किया, उस समय मुनीश्वर लोग जल में खडे होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात ऐसा अनुभव होने लगा मानो जैसे उन सबका पेट गले तक अन्न से भर गया हो। वह सब एक दूसरे के मुंह की ओर ताकने लगे और कहने लगे कि अब हम लोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे? दुर्वासा ने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा क्योंकि वह यह जानते थे कि पांडव भगवद्भक्त हैं। सम्राट अम्बरीष का स्मरण हो आया। उनके काल में जो उन पर बीती थी, उसके बाद से उन्हें भगवद्भक्तों से बड़ा डर लगने लगा था। सब लोग वहाँ से चुपचाप भाग निकले। सहदेव को वहाँ रहने वाले तपस्वियों से उन सबके भाग जाने का समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराज से कह दी। इस प्रकार द्रौपदी की श्री कृष्ण भक्ति से पांडवों की एक भारी विपत्ति सहज ही टल गईं। श्री कृष्ण ने प्रकट होकर उन्हें महर्षि दुर्वासा के दुर्दनीय क्रोध से बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागत वत्सलता का परिचय दिया।

पांडवों को इंद्रप्रस्थ का राज्य मिलने के बाद उनके द्वारा इंद्रप्रस्थ में राजसूय यज्ञ की समाप्ति पर श्री कृष्ण द्वारका चले गए थे। शाल्व ने अपने कामचारी विमान सौभ के द्वारा उत्पात मचा रखा था। पहुँचते ही केशव ने शाल्व पर आक्रमण किया। सौभ को गदाघात से चूर्ण करके, शाल्व तथा उसके सैनिकों को परम धाम भेजकर जब वह द्वारका लौटे तब उन्हें पांडवों के वनवास का समाचार मिला। वह वन में पांडवों से मिलने गए। पांडवों से मिलकर उन्होंने कौरवों के प्रति रोष प्रकट किया और उन्हें आश्वासन दिया कि वनवास की समाप्ति पर वह उनका राज्य दिलाने में उनकी मदद करेंगे।

द्रौपदी ने श्री कृष्ण की वन्दना करते हुए कहा, 'मधुसूदन, मैंने महर्षि असित और देवल से सुना है कि आप ही सृष्टिकर्ता हैं। परशुराम जी ने बताया था कि आप साक्षात अपराजित विष्णु हैं। आप ही यज्ञ, महर्षि, देवता तथा पञ्चभूतस्वरूप हैं। जगत आपके एक अंश में स्थित है। त्रिलोकी में आप व्याप्त हैं। निर्मल हृदय महर्षियों के हृदय में आप ही स्फुरित होते हैं। आप ही ज्ञानियों तथा योगियों की परम गति हैं। आप विभु हैं, सर्वात्मा हैं, आपकी शक्ति से ही सबको शक्ति प्राप्त होती है। आप ही मुत्यु, जीवन एवं कर्म के अधिष्ठाता हैं। आप ही परमेश्वर हैं। मैं अपना दु:ख आपसे न कहूँ तो किससे कहूँ।'

इस प्रकार कहते कहते द्रौपदी के नेत्रों से आंसुओं की झड़ी लग गईं। वह फुफकार मारती हुई कहने लगी, 'मैं महापराक्रमी पांडवों की पत्नी, धृष्टद्युम्न की बहन और आपकी सखी हूँ। कौरवों की सभा में मेरे केश पकड़कर मुझे घसीटा गया। मैं एक वस्त्रा रजस्वला थी। मुझे नग्न करने का प्रयत्न किया गया। मेरे पति मेरी रक्षा न कर सके। इसी नीच दुर्योधन ने भीम को विष देकर जल में बांधकर फेंक दिया था। इसी दुष्ट ने पांडवों को लाक्षावन में भस्म करने का प्रयत्न किया था। इसी पिशाच ने मेरे केश पकड़कर घसीटवाया और अभी भी वह जीवित है।'

पांचाली फूट फूटकर रोने लगी। उनकी वाणी अस्पष्ट हो गई। वह श्री कृष्ण को उलाहना दे रही थी, 'तुम मेरे सम्बन्धी हो। मैं अग्नि से उत्पन्न गौरवमयी नारी हूं तुम पर मेरा पवित्र अनुराग है। तुम पर मेरा अधिकार है और रक्षा करने में तुम समर्थ हो। तुम्हारे रहते मेरी यह दशा हो रही है।'

भक्त वत्सल भगवान श्री कृष्ण और न सुन सके। उन्होंने कहा, 'कल्याणी, जिन पर तुम रुष्ट हुई हो, उनका जीवन समाप्त हुआ समझो। उनकी स्त्रियां भी इसी प्रकार रोएंगी और उनके अश्रु सूखने का मार्ग नष्ट हो चुका होगा। अल्प काल में ही अर्जुन के बाणों से गिरकर वह श्रृगाल और कुत्तों के आहार बनेंगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि तुम सम्राज्ञी बनकर रहोगी। आकाश फट जाये। समुद्र सूख जाय। हिमालय चूर हो जाय। पर मेरी बात असत्य न होगी, न होगी।'

इसी यात्रा में एक दिन बातों ही बातों में सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा, 'बहन, मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं।

इसका कारण क्या है? क्या तुम कोई जन्तर मन्तर या औषधि जानती हो अथवा क्या तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्या से उन्हें वश में कर रखा है? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे भगवान श्यामसुन्दर मेरे वश में हो जाएं।'

देवी द्रौपदी ने कहा, 'बहन, आप श्याम सुन्दर की पटरानी एवं प्रियतमा होकर कैसी बातें कर रही हैं? सती साध्वी स्त्रियां जंतर मंतर आदि से उतनी ही दूर रहती हैं जितनी सांप, बिच्छू से। क्या पति को जंतर मंतर आदि से वश में किया जा सकता है? भोली भाली अथवा दुराचारिणी स्त्रियां ही पति को वश में करने के लिए इस प्रकार के प्रयोग किया करती हैं। ऐसा करके वह अपना तथा अपने पति का अहित ही करती हैं। ऐसी स्त्रियों से तो सदा दूर रहना चाहिये।'

इसके बाद द्रौपदी ने बतलाया कि अपने पतियों को प्रसन्न रखने के लिये वह किस प्रकार का आचरण करती थी। उन्होंने कहा, 'बहन, मैं अहंकार और काम क्रोध का परित्याग करके बड़ी सावधानी से सब पांडवों की सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्या से दूर रहती हूँ और मन को वश में रखकर केवल सेवा की इच्छा से ही अपने पतियों के मन रखती हूँ। मैं कटुभाषण से दूर रहती हूं। असभ्यता से खड़ी नहीं होती। खोटी बातों पर दृष्टि नहीं डालती। बुरी जगह पर नहीं बैठती। दूषित आचरण के पास नहीं फटकती तथा पतियों के अभिप्राय पूर्ण संकेतों का अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान, कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पांडवों के अतिरिक्त और कहीं नहीं जाता। अपने पतियों के भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब जब मेरे पति घर आते हैं, तब तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ। मैं घर के बर्तनां को मांज धोकर साफ रखती हूँ। मधुर रसोई तैयार करती हूँ। समय पर भोजन कराती हूँ। सदा सजग रहती हूँ। घर में अनाज की रक्षा करती हूँ और घर को झाड़ बुहार कर साफ रखती हूँ। मैं बातचीत में किसी का तिरस्कार नहीं करती। कुलटा स्त्रियों के पास नहीं फटकती और सदा ही पतियों के अनुकूल रहकर आलस्य से दूर रहती हूँ। मैं द्वार पर बार बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा करकट डालने की जगह पर भी अधिक नहीं ठहरती। सदा ही सत्य भाषण और पतिसेवा में तत्पर रहती हूँ। पतिदेव के बिना अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्य से पतिदेव बाहर चले जाते हैं, तब मैं पुष्प और चन्दनादि को छोड़कर नियम और व्रतों का पालन करती हुई समय बिताती हूँ। मेरे पति जिस वस्तु को नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मै

भी उससे दूर रहती हूँ। स्त्रियों के लिये शास्त्र ने जो जो बातें बताई हैं, उन सबका में पालन करती हूँ। शरीर को यथा प्राप्त वस्त्रालंकारों से सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेव का प्रिय करने में तत्पर रहती हूँ।'

'सासू माँ जी ने मुझे कुटुम्ब सम्बन्धियों के प्रति जो जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, उत्सवों पर पकवान बनाना, माननीयों का आदर करना तथा और भी मेरे लिये जो जो धर्म विहित है, उन सभी का मैं सावधानी से रात दिन आचरण करती हूँ। मैं विनय और नियमों को सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे विचार से तो स्त्रियों का सनातन धर्म पति के अधीन रहना ही चाहिए। वही उनके इष्टदेव हैं। मैं अपने पतियों से अपने को श्रेष्ठ नहीं समझती। उनसे अच्छा भोजन नहीं करती। उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासू माँ जी से वाद विवाद करती हूँ। सदा ही संयम का पालन करती हूँ। मैं सदा अपने पतियों से पहले उठती हूँ तथा बड़े बूढ़ों की सेवा में लगी रहती हूँ। अपनी सासू माँ की मैं भोजन, वस्त्र और जल आदि से सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादि में मैं कभी उनकी अपेक्षा नहीं करती। पहले महाराज युधिष्ठिर के दस सहस्त्र दासियां थीं। मुझे उन सब के नाम, रूप, वस्त्र आदि सब का पता था और इस बात का भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं। जिस समय इंद्रप्रस्थ में रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख अश्व और उतने ही हाथी चलते थे। उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही किया करती और मैं ही उनकी आवश्यकताएं सुनती थी। अन्तःपुर के ग्वालों और गडरियों से लेकर सभी सेवकों के काम काज की देख रेख भी मैं ही किया करती थी।'

'महाराज की जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी। पांडव लोग कुटुम्ब का सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा पाठ में लगे रहते थे और अतिथियों का स्वागत सत्कार करते थे। मैं सब प्रकार का सुख छोड़कर उनकी सहायता करती थी। मेरे पतियों का जो अटूट कोष था, उसका पता भी मुझ को ही था। मैं भूख प्यास को सहकर रात दिन पांडवों की सेवा में लगी रहती हूँ। प्रत्येक रात और दिन मेरे लिये समान ही हैं। मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती हूँ। सत्यभामा जी, पतियों को अनुकूल करने का मुझे तो यही उपाय मालूम है।'

एक आदर्श गृहपत्नी को घर में किस प्रकार रहना चाहिये, इसकी शिक्षा और प्रेरणा द्रौपदी के जीवन से सहज ही प्राप्त होती है।

द्रौपदी के जिन लंबे काले बालों का कुछ ही दिन पहले राजसूय यज्ञ में अवभृथ स्नान के समय मन्त्र से उच्चारित कर जल से अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालों का दुष्ट दु:शासन के द्वारा भरी सभा में खींचा जाना द्रौपदी को कभी नहीं भूला। उस अभूतपूर्व अपमान की आग उनके हृदय में सदा ही जला करती थी। इसीलिये जब जब उनके सामने कौरवों से सन्धि करने का प्रस्ताव आया, तब तब उन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमान की याद दिलाकर अपने पतियों को युद्ध के लिये प्रोत्साहित करती रहीं। अन्त में जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवों को समझा बुझाकर देख लिया जाय, और जब भगवान श्री कृष्ण पांडवों की ओर से सन्धि का प्रस्तााव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी वह अपने अपमान की बात नहीं भूली और उन्होंने अपने लंबे काले बालों को दिखाते हुए श्रीकृष्ण से कहा, 'श्री कृष्ण तुम सन्धि करने जा रहे हो सो तो ठीक है, परंतु तुम मेरे इन खुले केशों को न भूल जाना।'

जाहु भलें कुरुराज पै धारि दूत को वेस।।
भूलि न जैयो पै वहाँ केसौ कृष्णा-केस।।

'मधुसूदन, क्या मेरे यह केश आजीवन खुले ही रहेंगे? यदि पांडव युद्ध नहीं करना चाहते तो मैं अपने पांचों पुत्रों को आदेश दूँगी। पुत्र अभिमन्यु उनका नेतृत्व करेगा। मेरे वृद्ध पिता और भाई सहायता करेंगे। पर श्रीकृष्ण, तुम्हारा चक्र क्या शान्त ही रहेगा?'

इस पर श्रीकृष्ण ने गम्भीरता के साथ कहा, 'कृष्णे, आंसुओं को राको, मैंने प्रतिज्ञा की है। प्रकृति के सारे नियमों के पलट जाने पर भी वह मिथ्या नहीं होगी। तुम्हारा जिन पर कोप है, उनकी विधवा पत्नियों को तुम शीघ्र ही रोते देखोगी।'

काम्यकवन में जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदी को बलपूर्वक ले जाने की चेष्टा करने लगा, तब इस वीरांगना ने उसे इतनी तीव्रता से धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़ की तरह जमीन पर गिर पड़ा। किंतु फिर तुरंत ही उठ खड़ा हुआ और उन्हें बलपूर्वक रथ पर बैठाकर ले जाने लगा। तब भीम एवं अर्जुन ने उसे पकड़ लिया और उसके दुष्कर्म का दण्ड

देने लगे। तब द्रौपदी ने दया करके उसे छुड़वा दिया। द्रौपदी क्रोध के साथ साथ क्षमा का अपूर्व मेल हैं। उनका पतिव्रत तेज अपूर्व था। जिस किसी ने भी उनके साथ छेड़ छाड़ की, उसी को प्राणों से हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दु:शासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। महाभारत के युद्ध में जो कौरवों का सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदी का अपमान ही था।

महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ। पांडव सेना शान्ति से शयन कर रही थी। श्री कृष्ण पांचों पांडवों तथा द्रौपदी को लेकर उपप्लव्य नगर चले गए थे। प्रात: दूत ने समाचार दिया कि रात्रि में शिविर में अग्नि लगाकर अश्वत्थामा ने सबको निर्दयता पूर्वक मार डाला है। यह सुनते ही सब रथ में बैठकर शिविर में पहुँचे। अपने मृत पुत्रों को देखकर द्रौपदी ने बड़े करुण स्वर में क्रन्दन करते हुए कहा, 'मेरे पराक्रमी पुत्र यदि युद्ध में लड़ते हुए मारे गए होते तो मैं संतोष कर लेती। क्रूर ब्राह्मण ने निर्दयता पूर्वक उन्हें सोते समय मार डाला है।'

द्रौपदी को धर्मराज ने समझाने का प्रयत्न किया। परंतु पुत्र के शवों के पास रोती माता को क्या कोई समझाएगा? भीम ने क्रोधित होकर अश्वत्थामा का पीछा किया। श्री कृष्ण ने बताया कि नीच अश्वात्थामा भीम पर ब्रह्मास्त्र प्रयोग कर सकता है। अर्जुन को लेकर वह भी पीछे रथ में बैठकर गए। अश्वात्थ्मा ने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। उसे शान्त करने को अर्जुन ने भी उसी अस्त्र से उसे शान्त करना चाहा। दोनों ब्रह्मास्त्र ने प्रलय का दृश्य उपस्थित कर दिया। भगवान वेद व्यास तथा देवर्षि नारद ने प्रकट होकर ब्रह्मास्त्रों को लौटा लेने का आदेश दिया। अर्जुन ने तो ब्रह्मास्त्र लौटा लिया लेकिन अश्वत्थामा ने ऐसा नहीं किया। तब भीम और अर्जुन ने द्रोण पुत्र को बॉध लिया और अपने शिविर में ले आए। अश्वत्थामा पशु की भाँति बंधा हुआ था। निन्दित कर्म करने से उसकी श्री नष्ट हो गईं थी। उसने सिर झुका रखा था। अर्जुन ने उसे लाकर द्रौपदी के सम्मुख खड़ा कर दिया। गुरु पुत्र को इस दशा में देखकर द्रौपदी को दया आ गईं। उसने कहा, 'इन्हें शीघ्र छोड़ दो। जिनसे सम्पूर्ण अस्त्र शस्त्रों की आप लोगों ने शिक्षा पाई है, वह भगवान द्रोणाचार्य ही पुत्र रूप में स्वयं उपस्थित हैं। जैसे पुत्रों के शोक में मुझे दु:ख हो रहा है, मैं रो रही हूँ, ऐसा ही प्रत्येक स्त्री को होता होगा। इनकी माता देवी कृपी को यह शोक न हो। वह पुत्र शोक में मेरी तरह न रोयें। ब्राह्मण का हमारे द्वारा अनादर नहीं होना चाहिए।'

भीमसेन अश्वत्थामा के वध के पक्ष में थे। अन्त में श्री कृष्ण की सम्मति से द्रोण पुत्र के मस्तिक पर रहने वाली मणि छीनकर अर्जुन ने उसे शिविर से बाहर निकाल दिया।

द्वारका से लौटकर अर्जुन ने जब यदुवंश के नाश का समाचार दिया, तब परीक्षित का राज्याभिषेक करके धर्मराज ने अपने राजोचित वस्त्रों का त्याग कर दिया। मौन व्रत लेकर वे निकल पड़े। भाईयों ने भी उन्हीं का अनुकरण किया। द्रौपदी ने भी वल्कल वस्त्र पहने और पतियों के पीछे चल पड़ी। सबके पीछे चल रही थी। सब मौन थे। कोई किसी की ओर देखता नहीं था। द्रौपदी ने अपना चित्त सब ओर से एकाग्र करके परात्पर भगवान श्रीकृष्ण में लगा दिया था। उन्हें शरीर का पता नहीं था। हिम पर फिसल कर वह गिर पड़ी। शरीर उसी श्वेत हिमराशि में विलीन हो गया। महारानी द्रौपदी परम तत्त्व से एक हो चुकी थीं। वह तो वस्तुत: भगवान की अभिन्न शक्ति ही थीं।

ऐसी महान स्त्री थीं द्रौपदी। क्यों न वह प्रातः स्मरणीय और पूजनीय हों?

महर्षि गौतम

वंशावली

महर्षि गौतम ब्रह्मपुत्र महर्षि अंगीरस के प्रपौत्र, महर्षि उतथ्य के पौत्र एवं महर्षि दीर्घतमस के पुत्र हैं।

महर्षि अंगीरस ब्रह्मदेव के तृतीय मानस पुत्र माने जाते हैं। इस प्रकार महर्षि गौतम का पारिवारिक सम्बन्ध सीधा ब्रह्मदेव से है। महर्षि अंगीरस सप्त ऋषिओं में से एक महान महर्षि हैं जिनको प्रथम मन्त्र द्रष्टा के रूप में भी जाना जाता है। महर्षि अंगीरस अथर्व वेद के ज्ञाता के रूप में भी जाने जाते हैं। वह अग्निदेव के उपासक हैं। इन्होंने अग्निदेव की उपासना में अनेक श्लोकों की रचना की है। महर्षि अंगीरस खगोल विज्ञान के आविष्कारक भी जाने जाते हैं। हमारी भारतीय सनातन धर्म पद्धिति में यज्ञोपवीत संस्कार में महर्षि अंगीरस का आवाह्न किया जाता है।

मेघाम मह्यम अंगीरसः। मेघाम सप्तऋषये ददुः।।
मेघाम मह्यम प्रजापतिः। मेघाम अंगीर ददातु में।।

स्मृति, सुरूपा एवं स्वधा इनकी तीन धर्म पत्नियां हैं तथा महर्षि उतथ्य, महर्षि समवर्त, और देवगुरु बृहस्पति इनके पुत्र हैं।

महर्षि अंगीरस से सम्बंधित अनेक पौराणिक कथाएं हैं। ऐसा माना जाता है के जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म और पुनर्जन्म के ऋण-अनुबंध कारणों का ज्ञान सर्व प्रथम महर्षि अंगीरस के द्वारा ही दिया गया। हमारे समस्त सम्बन्ध, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री, घनिष्ठ सम्बन्धी एवं मित्र गण, सभी हमारे कर्मों के ऋण-अनुबंध हैं।

पौराणिक कथा कुछ इस प्रकार है कि त्रेता युग में चित्रगुप्त नाम के एक अत्यंत धार्मिक, कर्मनिष्ठ, न्याय प्रिय एवं प्रजा के हितैषी सम्राट थे। अभाग्य से वह निःसंतान थे। एक बार महर्षि अंगीरस अपने भ्राता ब्रह्मऋषि नारद के साथ सम्राट चित्रगुप्त के दरबार पहुंचे। सम्राट ने दोनों ही ब्रह्म-पुत्रों का बड़ा सम्मान किया। ब्रह्म-पुत्रों ने देखा कि महाराज अत्यंत चिंतित हैं। उन्होंने महाराज से इसका कारण पूछा। सम्राट ने कहा, 'हे भगवन, आप तो अन्तर्यामी हैं। सब कुछ जानते हैं फिर भी मुझ से मेरी चिंता का कारण पूछते हैं। मेरे कोई संतान नहीं है। इस साम्राज्य का मेरे बाद क्या होगा?'

महर्षि अंगीरस ने महाराज को समझाने का अत्यंत प्रयत्न किया और कहा, ‘आपकी कुंडली में पुत्र योग नहीं है। यह भगवान् की आप के ऊपर अत्यंत कृपा है। इसी से आपको सुख, शांति है। पुत्र, पुत्री जन्म एक कर्मों का ऋण-अनुबंध है। पुत्र, पुत्री प्राप्त होना किसी अनायास बुरे कर्म का प्रभाव भी हो सकता हैं, जो आपको शत्रु बनकर कष्ट दे सकते हैं। अतः इसे भगवान् का आशीर्वाद मानकर आप संतुष्ट होईए कि आपको कोई कष्ट पहुंचाने वाला नहीं है। रही बात साम्राज्य की, तो ना आप साम्राज्य लेकर आये थे, और ना ही अपने मरण उपरान्त लेकर जाएंगे। हरि का यह साम्राज्य है। वह कोई आपका उत्तराधिकारी अवश्य ढूंढ लेंगे। यह आवश्यक नहीं कि आपका उत्तराधिकारी आपका पुत्र ही हो।‘

लेकिन सम्राट पर तो पुत्र प्राप्ति का मोह चढ़ा हुआ था, अथवा कहिये उन्हें अपने किसी ऋण-अनुबंध का फल मिलना था। महर्षि अंगीरस के चरण पकड़ लिए, ‘हे भगवन, मुझे ज्ञान नहीं, पुत्र चाहिए। अगर आपने मुझे पुत्र नहीं दिया तो मैं आपके चरणों में अपना जीवन समाप्त कर दूंगा।‘

महर्षि अंगीरस के निर्देशानुसार ब्रह्मऋषि नारद ने आशीर्वाद देते हुए कहा, ‘एवमस्तु’।

सम्राट चित्रकेतु को पुत्र प्राप्ति हुई। उनके कई रानियां थीं। इन पुत्र की माँ राजमाता को सब से अधिक सम्मान मिलने लगा। राजकुमार सम्राट के अत्यंत प्रिय थे। उनका अधिकतर समय राजकुमार और राजमाता के साथ ही बीतने लगा। उस से अन्य रानियों को ईर्ष्या होने लगी और वह हर संभव अवसर ढूंढती रहतीं कि किस तरह इस राजकुमार का अंत किया जा सके। अंततः जब राजकुमार ६ वर्ष के हुए तो रानियों को अवसर मिल ही गया। उन्हें विष खिलाकर मार दिया गया। अब सम्राट की हालत तो बस कुछ पूछो ही नहीं। दुःख में सब कुछ, राज्य-साम्राज्य, खाना-पीना, ईश्वर-उपासना, सभी भूल गए। उनके राज पुरोहित ने महर्षि अंगीरस का आवाह्न किया। फिर से महर्षि अंगीरस अपने भ्राता ब्रह्मऋषि नारद के साथ पहुंचे। सम्राट ने उन दोनों के चरण पकड़ लिए और विनती करने लगे, ‘आप तो यौगिक देवता हैं। मेरे पुत्र को जीवित करो अन्यथा मैं शरीर त्याग दूंगा।‘

ब्रह्मऋषि नारद बोले, ‘हे राजन, हम तुम्हारे पुत्र को अवश्य जीवित कर देंगे लेकिन एक शर्त है। यह तभी संभव होगा जब वह स्वयं जीवित रहना चाहें।‘

सम्राट को आश्चर्य हुआ। वह बोले, ‘भगवन, मेरा पुत्र मुझे अपने प्राणों से भी अधिक प्रेम करता है। आप जीवित तो कीजिये, वह मेरे गले से लिपट जाएगा।’

महर्षि अंगीरस के आदेश पर ब्रह्मऋषि नारद ने पुत्र में प्राण डाल दिए। उठते ही पुत्र ने दोनों महर्षियों के चरण छूए, लेकिन सम्राट की ओर एक दृष्टि भी नहीं डाली।

पुत्र ब्रह्मऋषि नारद से बोले, ‘ हे भगवन, मुझे मोक्ष शान्ति से आपने क्यों बुला लिया? मैं तो विष्णुलोक में भगवान् नारायण के समीप उनकी स्तुति का आनंद उठा रहा था। आपके आदेश से मुझे आना पड़ा। अब आज्ञा दीजिये।‘

ब्रह्मऋषि नारद बोले, ‘सम्राट तुम्हें बहुत प्रेम करते हैं,\ और तुम्हें जीवित देखने के लिए उतावले हैं। क्या तुम जीवित होना चाहोगे?’

पुत्र हंसा। ब्रह्मऋषि के चरण पकड़ कहने लगा, ‘भगवन, ब्रह्मऋषि होकर और तत्व ज्ञानी होकर भी आप कैसी बातें करते हैं? कौन पिता, कौन पुत्र? आप तो जानते हैं कि मैं पूर्व जन्म में इनका पड़ोसी राजा था। इन्होंने मेरे राज्य पर आक्रमण किया। मुझे हराया और मैं वीरगति को प्राप्त हुआ। एक क्षत्रिय जब देश की सेवा में वीरगति को प्राप्त होता है तो उसे विष्णुलोक की प्राप्ति होती है। मैं तो विष्णुलोक में नारायण की सेवा में आनंद ले रहा था कि आपके आदेश से मुझे मृत्युलोक में फिर आना पड़ा। यह तो मेरे शत्रु हैं। कौन पिता? जिस अवस्था में दुःखी हो मैंने वीरगति पाई और अपने परिवार को असहनीय दुःख दिया, वही इनकी अवस्था कर मैंने अपना बदला ले लिया। मेरा बदला पूरा हुआ। अब तो आप मुझे विष्णुलोक में जाने की आज्ञा दीजिये।‘

सम्राट स्तब्ध। कुछ नहीं बोले। पुत्र वापस विष्णुलोक चले गए। तब महर्षि अंगीरस ने सम्राट चित्रगुप्त को सनातन ज्ञान दिया। जन्म, मृत्यु, पुनर्जन्म, कर्मों का फल और ऋण-अनुंबन्धों के बारे में बताया, जिस से सम्राट चित्रगुप्त का मोह जाता रहा।

ऐसे ज्ञानी थे महर्षि अंगीरस।

इनके पुत्रों में से एक थे, महर्षि उतथ्य। महर्षि उतथ्य 'उतथ्य गीत' के रचयिता हैं तथा दर्शन शास्त्र के विशेषज्ञ के रूप में जाने जाते हैं।

उतथ्य अत्यंत ज्ञानी एवं परम शक्तिशाली महर्षि थे। इन्होने पारिवारिक परम्परा रखते हुए अथर्व एवं ऋग्वेद के कई श्लोकों की विवेचना भी की। इनकी दो पत्नियों थीं, सोमा और ममता। सोमा महर्षि अत्रि की पुत्री थीं। कहते हैं कि वह अत्यंत विदुषी एवं अलौकिक सुन्दरी थीं। वरुण देव इन पर मुग्ध थे लेकिन पिता महर्षि अत्रि ने महर्षि उतथ्य को ही उनके अनुकूल पति माना और उनका विवाह महर्षि उतथ्य से कर दिया। इस से वरुण देव क्रोधित हो गए और उन्होंने सोमा का अपहरण कर लिया। महर्षि उतथ्य ने ब्रह्मऋषि नारद को वरुण देव के पास भेजा ताकि वह उनको समझा सकें और उनकी पत्नी सोमा को वापस भेज दें। वरुण देव ने ब्रह्मऋषि की बात नहीं मानी। तब ब्रह्मऋषि ने आकर महर्षि उतथ्य से कहा कि समस्त शांति द्वार बंद हो चुके हैं। अब आप ही अपनी यौगिक शक्ति से वरुण को सोमा को लौटाने के लिए विवश कर सकते हैं। तब महर्षि उतथ्य को क्रोध आया। कमंडल से जल लेकर प्रतिज्ञा की कि अगर वरुण देव सोमा को तुरंत नहीं लौटा देते हैं तो मैं समस्त नदियों और बावड़ियों को सुखा दूंगा तथा इस भूमि को श्रापित कर दूंगा जो कभी फसल एवं वृक्ष न उगा सकेगी। उनकी प्रतिज्ञा से डर कर एवं उनकी शक्ति का भान कर वरुण देव ने तुरंत सोमा को उन्हें लौटा दिया। ऐसे यौगिक शक्तिशाली महर्षि थे उतथ्य।

उनकी दूसरी पत्नी ममता ने महर्षि दीर्घतमस को जन्म दिया जो महर्षि गौतम जी के पिता हैं।

दीर्घतमस, जिन्हें रहुगन के नाम से भी जाना जाता है, जन्म से अंधे होते हुए भी महाज्ञानी महर्षि थे। वह खगोल शास्त्र के विशेष ज्ञाता थे। इन्होने ऋग्वेद के छठे अध्याय की रचना की है। महर्षि दीर्घतमस ने सहस्रों वर्ष पूर्व राशि चक्र के ३६० अंश में होने का प्रमाण दिया। महर्षि दीर्घतमस ने 'ईष्यावामनष्य' सूत्र की रचना की। 'एकम सदविप्रा बहुदा वदमाती' का प्रथम ज्ञान महर्षि दीर्घतमस ने ही दिया जिसने एक-ईश्वरवाद एवं बहु ईश्वरवाद को भली भाँति समझाया तथा बतलाया कि यह दोनों एक ही हैं। महर्षि दीर्घतमस ने अपनी पारिवारिक परम्परा को रखते हुए ऋग्वेद के कई श्लोकों की रचना भी की। महर्षि दीर्घतमस भारत वर्ष के जन्मदाता महाराज भरत के राजपुरोहित थे। उन्हीं के निर्देश पर देश का नाम भारत पड़ा। महर्षि दीर्घतमस की धर्मपत्नी का नाम प्रदवेश था और इनके पुत्र महर्षि गौतम हुए।

महर्षि दीर्घतमस ने सम्राट भरत के राजपुरोहित होते हुए सामाजिक कानूनों की व्यवस्था की। उनमें से एक महत्वपूर्ण कानून था, महर्षि मनु द्वारा रचित विवाह संस्कार एवं स्त्रियों के अधिकार का नियम लागू करना।

महर्षि दीर्घतमस ने विवाह संस्कार एवं स्त्रियों के अधिकार की नई परिभाषा दी। इस संस्कार के अनुसार वर वधु यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वह दो शरीर लेकिन एक प्राण हों। उन में किसी प्रकार का भेदभाव न हो। उनका गृहस्थ जीवन सुख, शांति और समृद्धि पूर्ण हो, कोई कलह न हो और उनकी संतान भी उत्तम हो। विवाह का शाब्दिक अर्थ महर्षि दीर्घतमस ने समझाया, 'वर का वधू को उसके पिता के घर से अपने घर ले जाना'। यह भी समझाया कि यह शब्द उस पूरे संस्कार का द्योतक है जिससे यह कार्य संपन्न किया जाता है। इस संस्कार के बाद ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। महर्षि दीर्घतमस ने समझाया कि इस संस्कार के दो प्रमुख उद्देश्य हैं, मनुष्य विवाह करके देवताओं के लिए यज्ञ करने का अधिकारी हो जाता है और पुत्र उत्पन्न कर सकता है।

दूसरे शब्दों में महर्षि दीर्घतमस ने समझाया कि इस संस्कार के द्वारा व्यक्ति का पूर्ण रुप से समाजीकरण हो जाता है। संतानोत्पत्ति द्वारा वह अपने वंश को जीवित रखने और उसको शक्तिमान बनाने और यज्ञों द्वारा समाज के प्रति अपने कर्तव्य पूरा करने की प्रतिज्ञा करता है। साथ ही वह व्यक्ति अपने कर्तव्यों को पूरा करके धर्म के साथ धन संचय करके अपने जीवन के लक्ष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। महर्षि दीर्घतमस ने समझाया कि बिना पत्नी के कोई व्यक्ति धर्माचरण नहीं कर सकता। महर्षि दीर्घतमस के अनुसार इस संसार में बिना विवाह के स्त्री-पुरुषों के शारीरिक संबंध संभव नहीं हैं। धर्मानुसार विवाह के पश्चात ही संतानोत्पत्ति द्वारा मनुष्य इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त कर सकता है। महर्षि दीर्घतमस ने समझाया कि पत्नी ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का स्रोत है।

पुत्री का विवाह करना पिता का परम कर्तव्य उन्होंने बताया। यदि यौवन प्राप्त करने पर भी कन्या के अभिभावक उसका विवाह न करें, तो वह बड़े पाप के भागी होते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि माता पिता उसके यौवन प्राप्त करने पर वर न ढूंढे तो ऐसी दशा में कन्या स्वयं अपने लिए योग्य वर ढूंढ कर विवाह कर सकती है।

विवाह संस्कार के लिए उपयुक्त समय, वर और वधु की योग्यताएँ और विवाह संस्कार के विभिन्न चरणों का विस्तृत वर्णन महर्षि दीर्घतमस ने किया। इसके अनुसार वधू वर के माता की सपिंड संबंधी और पिता के गोत्र की नहीं होनी चाहिए। सपिंड का अर्थ है, माता के पूर्वजों में छः पीढ़ी तक रक्त का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। गोत्र उस पूर्वज ऋषि के नाम पर होता है जिसका वह परिवार संतति होता है। इन प्रतिबंधों का यह उद्देश्य था कि अति निकट संबंधियों में वैवाहिक संबंध न हों। माता पिता के संतान के साथ या भाई बहन के अवांछनीय वैवाहिक संबंध का भय ही संभवतः इन प्रतिबंधों का मूल कारण था।

महर्षि दीर्घतमस ने समझाया और स्पष्ट किया कि विवाह संविदा नहीं है अपितु पवित्र बंधन है। विवाह करते समय पति-पत्नी का प्रमुख उद्देश्य धर्म, अर्थ और काम, तीन पुरुषार्थों को करने योग्य बनना है जिससे कि अंत में जीवन के लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो सके।

इन्हीं महर्षि दीर्घतमस के पुत्र हैं महर्षि गौतम।

जन्म, शिक्षा, उपलब्धि एवं विवाह

महर्षि गौतम का जन्म त्रेता युग में सरयू उपवन में चैत्र महीने की शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा को हुआ था। सरयू उपवन मैथली देश की सीमांओं में है जहाँ विदेह जनक महाराज ने राज किया। पिता महर्षि दीर्घतमस ने उनका नाम 'गौतम' रखा जिसका अर्थ है, अंधकार का नाशक। महर्षि गौतम के प्रथम गुरु उनके स्वयं के पिता थे। वे मेधावी छात्र थे तथा अल्प समय में ही उन्होंने समस्त वेदों, शास्त्रों और भाषाओं का ज्ञान अपने पिता से अर्जित किया।

व्यस्क होने पर महर्षि गौतम ने महादेव का तप किया। प्रसन्न महादेव ने उन्हें उनकी इच्छा जान उन्हें अपना शिष्य बनाया और मन्त्रद्रष्टा ज्ञान दिया। मन्त्रद्रष्टा ज्ञान मिलने के उपरान्त उन्होंने सामवेद के भद्र मन्त्र की रचना की। उसके पश्चात उन्होंने 'गौतम धर्मसूत्र' की रचना की। इस ग्रंथ में उन्होंने अपने पिता के बनाये हुए सामाजिक नियमों का विस्तार किया तथा एक सभ्य सामाजिक प्रणाली की नींव डाली। इसी कारण महर्षि गौतम को सामाजिक एवं धार्मिक नियमों का पिता भी कहा जाता है।

'गौतम धर्मसूत्र' अब तक उपलब्ध धर्मसूत्रों में प्राचीनतम धर्म नियमों का संकलित ग्रन्थ है। सामयाचारिक धर्म का विवेचन करने वाले इस धर्मसूत्र में २८ अध्याय हैं, जिनमें वर्ण, आश्रम और निमित्त (प्रायश्चित्त) धर्मों का विस्तृत तथा गुणधर्म (राजधर्म) का अपेक्षतया संक्षिप्त विधान है। अध्याय १ एवं २ में धर्मप्रमाण, उपनयन, ब्रह्मचारी, भिक्षु और बैखानस आश्रमों की विधि का उल्लेख है। अध्याय ३ में गृहस्थाश्रम से संबद्ध संस्कार और कर्तव्य का उल्लेख है। अध्याय ४-८ में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कर्तव्यों का उल्लेख है। अध्याय ९-१० में राजधर्म का उल्लेख है। अध्याय ११ में दंड, अध्याय १२-१४ में स्त्री धर्म, अध्याय १५-१७ में प्रायश्चित्त एवं अध्याय १८-२८ में पुत्रों के प्रकार आदि का विवेचन है।

संपूर्ण 'गौतम धर्मसूत्र' गद्य में है, यद्यपि कुछ सूत्र वत्तगंधि शैली में लिखे गए हैं। यह अनुष्टुप् के अंश प्रतीत होते हैं। इसकी भाषा पाणिनीय व्याकरण की अनुयायी है।

भारतीय न्याय शास्त्र की स्थापना महर्षि गौतम ने की। वह शास्त्र जिसमें किसी वस्तु के यथार्थ ज्ञान के लिये विचारों की उचित योजना का निरूपण होता है, न्यायशास्त्र कहलाता है। वर्तमान समय में विश्व में उपस्थित कानून प्रणाली प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से इसी शास्त्र पर आधारित है। महर्षि गौतम ने भगवान शिव के आदेश पर इस शास्त्र की रचना की ताकि आने वाले समय में जब प्रत्येक व्यक्ति सत्य की अलग अलग प्रकार से व्याख्या करें, तब सत्य तक पहुँचने हेतु यह तार्किक प्रणाली उपयोगी सिद्ध हो। इसका वर्णन 'शिव महापुराण' में भी मिलता है।

महर्षि गौतम के न्याय दर्शन में सोलह तथ्यों का उल्लेख प्राप्त होता है।

प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डाहेत्वाभास-च्छल-जाति-निग्रहस्थानानाम्तत्त्वज्ञानात्, निःश्रेयसाधिगमः।

न्याय दर्शन में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान हैं।

न्याय चार तरह के प्रमाणों की चर्चा करता है, अनुभूति (प्रत्यक्ष), अर्थ निकालना (अनुमान), तुलना करना (उपमान) और शब्द (साक्य)। अप्रामाणिक ज्ञान में स्मृति, शंका, भूल और काल्पनिक वाद-विवाद शामिल हैं।

न्याय दर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, ये चार प्रमाण माने गए हैं। प्रत्यक्ष का अर्थ है इंद्रियों के साथ सीधा संपर्क होना, अर्थात स्वयं सुनना, देखना, चखना आदि। निष्कर्ष तक पहुंचने का जो साधन हो, उसे अनुमान कहते हैं। एक वस्तु से दूसरे वस्तु की तुलना कर उसका ज्ञान होना उपमान कहलाता है। यथार्थ वाक्य या विद्वानों की कही हुई बातें शब्द प्रमाण कहलाती हैं।

प्रमाण के द्वारा हम अपने अनुभव के सही या गलत होने का विश्लेषण कर सकते हैं। दर्शन केवल बड़े दार्शनिकों के बीच संवाद न होकर संपूर्ण समाज के सोचने समझने की पद्धिति है। वाद का अर्थ है, ज्ञान प्राप्ति के लिए की जाने वाली बहस। जिस बहस में जीतना ही उद्देश्य हो, उसे विवाद कहते हैं। यदि हार की संभावना के कारण बहस का उद्देश्य भटक जाए, तो उसे वितंडा कहा जाता है। हेत्वाभास का अर्थ है किसी

घटना के लिए ऐसे कारण का दिया जाना, जो कारण तो लगता है लेकिन यथार्थ में वह कारण नहीं है। शब्द की विभिन्न वृत्तियों को उलट कर यदि उसके द्वारा किसी बात का विरोध किया जाए, तो वह छल कहा जाता है। इस तरह न्याय तर्क के द्वारा सत्य तक पहुंचने का मार्ग है।

इन्द्रियों का विषय के साथ संबंध होने पर जो ज्ञान मिलता है, उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण में जो शब्दात्मक नहीं होता, बल्कि आँखों द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया हो वह सर्व श्रेष्ठ माना जाता है। जो खंडित या बाधित न होने वाला निश्चयात्मक ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्ष प्रमाण की अनुपस्थिति में महर्षि गौतम ने अनुमान का वर्णन किया है। गौतम महर्षि के अनुसार अनुमान तीन प्रकार का है, पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्य तोदृष्ट।

अनुमान के अंतर्गत भूतकाल तथा वर्तमान काल की परिस्थितियों के आधार पर भविष्य का अनुमान लगाया जाता है। उदाहरण स्वरुप जैसे कि वर्तमान में आसमान में बादल घिरे हुए देखकर हम अनुमान लगाते हैं कि अब बारिश होगी। धुआं देख कर यह अनुमान लगाना कि यहाँ निश्चय ही आग लगी होगी, सत्य ही माना जा सकता है। अनुमान विधि के द्वारा यह बात कदाचित ठीक ही बैठती है। जिसमें वर्तमान वस्तु स्थिति का ही एक देश देखकर उसके अवशिष्ट देश के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है, वह शेषवत् अनुमान है। जैसे कि समुद्र की एक बूँद चखकर समुद्र का सारा पानी खारा है, ऐसा अनुमान। जिस अनुमान में दिये जाने वाले प्रत्यक्ष दृष्ट उदाहरण साध्य के साक्षात् उदाहरण नहीं है, साध्य की जाति के नहीं हैं, बल्कि साध्य के सदृश हैं, वह अनुमान सामान्य अर्थात सादृश्य पर आधारित होने के कारण सामान्य तोदृष्ट कहलाता है। साध्य का दर्शन सादृश्य के माध्यम से ही हो सकता है। जैसे कि चंद्र की गति हम प्रत्यक्षत: नहीं देख सकते, लेकिन चंद्र अपना स्थान बदलता है, इतना हम देख सकते हैं। इस स्थानान्तरण से हम अनुमान लगाते हैं कि चंद्र अवश्य गतिमान है। उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें कभी नहीं होता है, बल्कि दूसरे क्रिया साधकों के साथ सादृश्य जानकर ज्ञान साधन के रूप में हम केवल उनका अनुमान ही कर सकते हैं।

उपमान तीसरा प्रमाण माना जाता है। उपमान किसी अप्रसिद्ध वस्तु की ऐसी जानकारी है जो प्रसिद्ध वस्तु के साथ उसका साधर्म्य जानकर होती है। जैसे हमें अगर 'क' नामक प्राणी की जानकारी न हो और हमें किसी सत्य वक्ता ने बताया हो कि 'क' बैल होता है तो उसके बताए हुए सादृश्य के आधार पर हम 'क' को पहचान सकते हैं।

प्रमाण का चौथा प्रकार शब्द (बात /वार्ता) है, जो आप्त (यथार्थ-वक्ता) का वचन है। शब्द प्रमाण में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, (पंच ज्ञानेन्द्रिय), अर्थ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) बुद्धि (ज्ञान), मनस, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (मरणोत्तर अस्तित्व) फल, दुःख और अपवर्ग (मोक्ष), यह बारह प्रमेय हैं। इनके स्वरूप का ज्ञान अपवर्ग के लिए उपयोगी है। महर्षि गौतम मानते हैं कि अपवर्ग के लिए सर्व प्रथम मिथ्या ज्ञान का नाश होना चाहिए। उसी से काम, क्रोधादि दोषों का नाश हो सकता है। उससे कर्म के प्रति प्रवृत्ति का नाश होगा तथा प्रवृत्ति नाश से ही पुनर्जन्म श्रृंखला खंडित होगी। पुनर्जन्म श्रृंखला खंडित होने से ही दुःख का नाश होगा, और दुःख नाश ही अपवर्ग का स्वरूप है।

उपरोक्त वर्णन केवल प्रमाण के चार प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन है। इसके अतिरिक्त महर्षि गौतम ने प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धात, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह आदि पर भी पूर्ण वर्णन समाज कल्याण हेतु न्यायशास्त्र के रूप में दिया है।

महर्षि गौतम ने सामवेद की 'रानायनी शाखा' को स्थापित किया। इस सूत्र में महर्षि गौतम कहते हैं कि साधारण लोगों को महापुरुषों के चरित्र का कृत्रम अनुकरण नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से वह अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए लोगों को महापुरुष होने का भ्रम पैदा कर पाप कर सकते हैं।

दृष्टो धर्म व्यतिक्रमः साहसं च महताम। अवर दौर्बल्ययाथ।

महापुरुषों ने धर्मानुसार महान कार्य किये हैं। चूंकि साधारण पुरुषों में वह असाधारण ऊर्जा एवं शक्ति नहीं है, इस कारण उन्हें ऐसे महापुरुषों का कृत्रम अनुसरण नहीं करना चाहिए।

महर्षि गौतम ज्योतिष के बहुत बड़े ज्ञाता थे। ज्योतिष शास्त्र पर उन्होंने 'गौतम संहिता' की रचना की।

'गौतम संहिता' में पृथ्वी पर, ग्रहों और तारों के शुभ तथा अशुभ प्रभावों का अध्ययन किया गया है। यह ज्योतिष का यौगिक ग्रह तथा नक्षत्रों से संबंध रखने वाली विद्या है। इस से गणित (सिद्धांत) ज्योतिष का भी बोध होता है। इस पुस्तक में दर्शाया है कि ग्रहों तथा तारों के रंग भिन्न भिन्न प्रकार के दिखलाई पड़ते हैं अतैव उनसे निकलने वाली किरणों के भी भिन्न भिन्न प्रभाव हैं। पृथ्वी सौर मंडल का एक ग्रह है अतैव इस पर तथा इसके निवासियों पर मुख्यतः सूर्य तथा सौर मंडल के ग्रहों और चंद्रमा का विशेष प्रभाव पड़ता है। पृथ्वी विशेष कक्ष में चलती है जिसे क्रांतिवृत्त कहते हैं। इस कक्ष के इर्द गिर्द कुछ तारामंडल हैं जिन्हें राशियाँ कहते हैं। इसमें फलित ज्योतिष का वर्णन किया गया है। फलित ज्योतिष उस विद्या को कहते हैं जिसमें मनुष्य तथा पृथ्वी पर ग्रहों और तारों के शुभ तथा अशुभ प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

महर्षि गौतम ने वयस्क अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर रखा था। लेकिन संयोग कहिये या भगवद-लीला, अधेड़ आयु में उनका विवाह अहिल्या से हुआ। उनके अहिल्या से विवाह होने का विवरण उपरोक्त किया जा चुका है।

जनकल्याण यज्ञ

महर्षि गौतम विवाह पश्चात अपनी धर्मपत्नी अहिल्या के साथ नासिक के पास आश्रम बनाकर अपने शिष्यों के साथ रहने लगे। एक बार इस भूतल पर बारह वर्ष अनावृष्टि के कारण भयंकर अकाल पड़ा। परिणाम स्वरूप असंख्य जीवधारियों के साथ औषधियों का भी विनाश होने लगा। इस संदर्भ में महर्षि गौतम ने जनकल्याण हेतु सत्र यज्ञ का संकल्प किया। इस यज्ञ के परिणाम स्वरुप अनावृष्टि समाप्त हो गई। समस्त भूमंडल पर भारी वर्षा हुई। सारी धरती शस्य-श्यामला हो हरीतिमा से लहलहा उठी। अन्न का अकाल दूर हो गया। यज्ञ में आहूत ऋत्विज मुनि अब अपने अपने आश्रमों को लौटने की तैयारी करने लगे। वनवासी अपने अपने निवास को लौट गए। परंतु गौतम मुनि ने तपस्वियों को थोड़े समय तक और रुक जाने की अभ्यर्थना की।

समस्त मुनिगण इस विनय पर महर्षि गौतम के आश्रम में ही रह गए। जब महर्षि गौतम द्वारा आयोजित नव वर्ष शतक्रतु समाप्त हो चुका, तब कुछ मुनियों ने अपने आश्रमों का संकल्प किया और महर्षि गौतम से अनुमति मांगी। परंतु महर्षि गौतम ने उनको अनुमति नहीं दी। इस पर वह वह सोचने लगे, 'हम लोग दुर्भिक्ष के समय महर्षि गौतम के आश्रम में रहे, यह उचित था। किंतु जब सारा देश सुभिक्षित है तब भी वह बलपूर्वक हम लोगों को रोक रहे हैं, यह अच्छा नहीं है। लगता है कि इनके भीतर अन्न दान करने का अहंकार हो गया है। हम लोग केवल इनके आश्रम में रहकर अपना पेट पाल रहे हैं। हमारा अस्तित्व कुछ नहीं है। यह ही क्या एक तपोबल रखते हैं और क्या अकेले ही वेद शास्त्रों के ज्ञाता हैं? इनको किसी प्रकार से दोषी ठहराकर इनके अहंकार का दमन करके हमें यहां से निकलना चाहिए।'

इस प्रकार विचार करते हुए द्वेषी मुनियों ने एक मायावी गाय की सृष्टि की और उसको महर्षि गौतम के खेत में छोड़ आए। गाय के गले में एक पगड़ी बंधी हुई थी और उसके साथ एक बछड़ा भी था। गाय धान और गेहूं की फसल चर रही थी। महर्षि गौतम जब प्रात: कालीन स्नान, संध्या आदि नित्य नैमित्तिक कृत्यों से निवृत्त होकर अपने आश्रम को लौट रहे थे, तब खेत में फसल चरती गाय को देख महर्षि ने उसे हांक दिया। पर वह हिली डुली नहीं। इस पर महर्षि गौतम ने अपने कमंडल का जल हाथ में डालकर गाय पर छिड़क दिया। जल का स्पर्श लगते ही गाय ने खेत में ही अपने प्राण त्याग दिए। महर्षि गौतम गाय की मृत्यु पर चकित रह गए। अपने आश्रम लौटकर महर्षि ने

मुनियों को सब बतलाया और उनसे पूछा, ‘हे तपस्वियो, मैंने खेत में चरती गाय को हांका और जल छिड़क दिया। मैंने गाय को मृत पाया। क्या यह गौ वध है, और अगर है तो इसका प्रायश्चित क्या होगा?

तपस्वियों ने कहा, ‘आपने इच्छा पूर्वक गाय का वध कर डाला। इसके लिए प्रायश्चित का कोई विधान नहीं है। यदि आप गाय को जीवित देखना चाहते हैं तो एक ही उपाय है कि दिव्य जल से उसे अभिषिक्त करें। जब तक यह न हो जाए तब तक आप यज्ञादि संपन्न नहीं कर सकते। इस जघन्य पाप के भागी हुए आपके आश्रम में अब हम एक क्षण भी नहीं ठहर सकते।’

यह कह कर समस्त मुनि मंडल साधु पुरुष महर्षि गौतम के आश्रम से चले गए।

इसके उपरांत महर्षि गौतम ने गंगा जल से गाय को पुनर्जीवित करने का निश्चय करके गंगाधर शिव जी के प्रति घोर तपस्या करने का संकल्प किया। कैलाश शिखर पर पहुंचकर अनेक वर्षों तक महर्षि गौतम ने तपस्या की। महर्षि गौतम की तपस्या पर प्रमुदित होकर भक्त वत्सल शिव शंकर ने प्रत्यक्ष होकर पूछा, ‘महर्षि गौतम, मैं तुम्हारी तपस्या से प्रसन्न हूं। मांगो, तुम कैसा वरदान चाहते हो?’

इस पर महर्षि गौतम ने भक्ति पूर्वक महेश्वर को प्रणाम करके निवेदन किया, ‘भगवन, मुझे गंगा प्रदान कीजिए।‘

तत्काल शिव जी ने अपने जटाजूट से एक जटा निकालकर महर्षि गौतम के हाथ में दी और कहा, ‘तपस्वी, तुम जलसिक्त इस जटा को ले जाकर मृत गाय के स्थल पर रख दो। वहां पर एक नदी का उद्भव होगा। नदी जल के स्पर्श मात्र से गाय पुनर्जीवित होगी और तुम गौ वध के पाप से मुक्त हो जाओगे। साथ ही इस घटना के षड्यंत्र का भी तुम्हें बोध होगा।’

महादेव के अदृश्य होते ही महर्षि गौतम ने जटा को ले जाकर मृत गाय के स्थल पर रख दिया। उसी क्षण वहां तेज धार वाली गंगा प्रादुर्भूत हुई और गंगाजल के स्पर्श से गाय जीवित हो उठी। इसके बाद गंगा की वह धारा महर्षि गौतम के पीछे बह चली।

गाय की रक्षा जिस धारा से हुई, वह गोदावरी नाम से विख्यात हुई और महर्षि गौतम इस धारा को लाए थे, इस कारण वह महानदी 'गौतमी' नाम से भी लोक प्रशस्त हुई।

महेश्वर की महिमा से महर्षि गौतम को दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। मुनियों की प्रवंचना से परिचित हो महर्षि गौतम ने उन कृतघ्न तपस्वियों को शाप दिया, 'तुम लोग अपने ज्ञान से वंचित होकर तपोविहीन बन जाओगे।'

इस श्राप को प्राप्त कर मुनियों के मन में घोर पश्चाताप हुआ। महर्षि गौतम के चरण पकड़ कर क्षमा माँगी तथा इस श्राप से मुक्ति का मार्ग सुझाने की प्रार्थना की। तब महर्षि ने दया कर उन्हें सत्कर्म फल प्राप्त करने के लिए सह्याद्रि में स्थित भैरव क्षेत्र में जाने का उपाय बताया। तब महर्षि गौतम से विदा लेकर मुनिगण पुण्य प्रदायी भैरव क्षेत्र की ओर निकल पड़े।

गृहस्थ जीवन

जैसा ऊपर वर्णित है, महान पतिवृता, शांतिप्रिय, ज्ञानी, अति सुन्दर अहिल्या से विवाह कर महर्षि गौतम नासिक के पास आश्रम बना कर वहां अपने शिष्यों के साथ रहने लगे। अहिल्या के बारे में हमारे शास्त्रों में कहा गया है कि वह प्रातः स्मरणीय हैं। उनके स्मरण मात्र से ही समस्त पापों का नाश हो जाता है।

अहिल्या द्रौपदी सीता तारा मन्दोदरी तथा।
पञ्चकन्याः स्मरेन्नित्यं महापातकनाशिन्याः।।

अहिल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मंदोदरी इनका प्रतिदिन प्रातः स्मरण करना चाहिए। ये महा पापों का नाश करने वाली हैं।

महर्षि गौतम के दो पुत्र एवं एक पुत्री का उल्लेख मिलता है। उनके पुत्रों के नाम सतानन्द और शरद्वान थे तथा पुत्री का नाम अंजनी था जो भगवान् हनुमान की माँ बनीं।

सतानंद जी प्रखर बुद्धि वाले एक अत्यंत तेजस्वी महर्षि थे। इन्हीं को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मऋषि नारद एवं ब्रह्मपुत्र महर्षि याग्यवल्क्य ने अहिल्या का विवाह महर्षि गौतम से करवाया था। इनको शास्त्रों से बहुत लगाव था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्वयं महर्षि गौतम ने दी। व्यस्क होने पर ब्रह्मऋषि नारद इन्हें ज्ञान प्राप्ति के लिए महर्षि विश्वामित्र के आश्रम में ले गए। महर्षि विश्वामित्र ने समस्त वेदों, पुराणों, अर्थशास्त्र एवं राजनीति का इन्हें ज्ञान दिया। शिक्षा पूर्ण करने के बाद ब्रह्मऋषि नारद स्वयं उन्हें सम्राट विदेह जनक के पास ले गए और उन्हें सम्राट विदेह जनक का राजपुरोहित नियुक्त किया।

महर्षि गौतम के दूसरे पुत्र का नाम शरद्वान था। उन्हें वेदाभ्यास में जरा भी रुचि नहीं थी। धनुर्विद्या से उन्हें अत्यधिक लगाव था। वह भगवान् परशुराम के शिष्य बन धनुर्विद्या में इतने निपुण हो गये कि देवराज इन्द्र उनसे भयभीत रहने लगे। इन्द्र ने उन्हें साधना से डिगाने के लिये नामपदी नामक एक देवकन्या को उनके पास भेज दिया। उस देवकन्या के सौन्दर्य के प्रभाव से शरद्वान इतने काम पीड़ित हुये कि उनका वीर्य

स्खलित हो कर एक सरकंडे पर आ गिरा। वह सरकंडा दो भागों में विभक्त हो गया, जिसमें से एक भाग से कृप नामक बालक उत्पन्न हुआ और दूसरे भाग से कृपी नामक कन्या उत्पन्न हुई। कृप भी धनुर्विद्या में अपने पिता के समान ही पारंगत हुये। पितामह भीष्म ने इन्हीं कृप को पाण्डवों और कौरवों की शिक्षा के लिये नियुक्त किया। वह कृपाचार्य के नाम से विख्यात हुये।

गौतम महर्षि की पुत्री अंजनी हुईं। अंजनी भगवान् हनुमान की माँ बनी।

अहिल्या को श्राप

महर्षि गौतम अपनी पत्नी अहिल्या के साथ सुख से रह रहे थे। देवराज इंद्र ब्रह्मदेव अहिल्या से अपने विवाह का प्रस्ताव और उसका ब्रह्मदेव द्वारा तिरष्कार, अभी भूले नहीं थे। अहिल्या की सुंदरता उनके मन मष्तिष्क में बुरी तरह छाई हुई थी। हर संभव अवसर ढूंढते थे कि किस तरह अहिल्या से शारीरिक सम्बन्ध स्थापित किये जाएं। आखिर एक रात्रि को उन्हें अवसर मिल ही गया। एक रात्रि छल से उन्होंने बल पूर्वक अहिल्या से शारीरिक सम्बन्ध बनाने का प्रयत्न किया जैसे उपरोक्त अहिल्या कथा में वर्णित है।

इस इंद्रदेव के छलावे से अहिल्या क्षुब्धित हो गईं। उनके मस्तिष्क को इतना आघात लगा कि वह पत्थर जैसी हो गईं। तब सतानंद बालक ने अपने पिता की बहुत स्तुति की तथा माँ को इस क्षुब्धिता से बाहर निकालने की प्रार्थना की। महर्षि गौतम बालक सदानंद की प्रार्थना से प्रसन्न होकर बोले, 'भगवान् राम का जब इस आश्रम में महर्षि विश्वामित्र के साथ आगमन होगा, तब उनकी चरण रज पड़ने से तुम्हारी माँ की क्षुब्धिता समाप्त होगी और फिर से वह अपने ज्ञान को प्राप्त करेंगी।'

अहिल्या उद्धार का चित्रण गोस्वामी श्री तुलसी दास जी ने बहुत अच्छे ढंग से श्री रामचरितमानस में किया है।

प्रभु ने जब महर्षि विश्वामित्र के साथ महर्षि गौतम के आश्रम में आ कर उनका उद्धार किया, तब बार बार भगवान के चरणों में गिरकर उनकी स्तुति करती हुए अहिल्या ने मन वांछित वर पाया। तब उनका अपने पति गौतम महर्षि से पुनर्मिलन हुआ।

उपसंहार

महर्षि गौतम एक अत्यंत विनम्र साधु प्रकृति के अत्यंत ज्ञानी सिद्ध महापुरुषों में से एक थे। महर्षि ने समस्त भारत का कई बार भ्रमण किया और अनेक स्थानों पर अपने आश्रम बनाये। वह भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे। उन्होंने अनेक शिव मंदिरों का निर्माण कराया। महर्षि गौतम को ब्रह्मदेव ने सप्त-ऋषिओं में से एक महर्षि के पद से सम्मानित किया। महर्षि ने गौतम गोत्र की नींव डाली।

महर्षि गौतम के अनुयायी समस्त भारत में फैले हुए हैं। उनके द्वारा स्थापित मंदिरों में कुछ मुख्य मंदिरों का यहां उल्लेख किया जाता है।

त्र्यंबकेश्वर मंदिर नासिक

त्र्यंबकेश्वर मंदिर नासिक में स्थित है। इसको महर्षि गौतम का मुख्य आश्रम माना जाता है। यह ब्रह्मगिरि पहाड़ियों में जिला नासिक महाराष्ट्र में स्थित है। ऐसा माना जाता है कि महर्षि अपनी धर्म पत्नी अहिल्या के साथ सबसे अधिक समय इसी आश्रम में रहे। गौतमी गंगा के चरणों में यहां उन्होंने भगवान् शिव कि आराधना की और शिव मंदिर की स्थापना की। त्र्यंबकेश्वर १२ ज्योतिर्लिंगों में से एक है। यहां हर १२ वर्ष के बाद कुम्भ मेला होता है।

चन्द्रबाणी (गौतम कुंड) मंदिर

देहरादून-दिल्ली मार्ग पर देहरादून से ७ कि०मी० दूर यह मंदिर चन्द्रबाणी में स्थित है। एक पौराणिक कथा के अनुसार महर्षि गौतम अपनी पुत्री अंजना के साथ यहां निवास करते थे। इस कारण मंदिर में इनकी पूजा की जाती है। ऐसा कहा जाता है कि स्वर्ग-पुत्री गंगा इसी स्थान पर अवतरित हुई जो अब गौतम कुंड के नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्येक वर्ष श्रद्धालु इस पवित्र कुंड में डुबकी लगाते हैं। मुख्य सड़क से २ कि०मी० दूर शिवालिक पहाड़ियों के मध्य यह एक सुंदर पर्यटन स्थल है।

छपरा गौतम आश्रम

'छपरा गौतम आश्रम' छपरा बिहार से ५ किलो मीटर दूर पश्चिम की ओर स्थित है। इसे अहिल्या उद्धार स्थान के नाम से भी जाना जाता है। घाघरा नदी के किनारे यहां हर कार्तिक पूर्णिमा को बड़ा मेला लगता है। यहाँ के मंदिर में भगवान् श्री राम, माँ सीता के साथ माँ अहिल्या और महर्षि गौतम की भी प्रतिमाएं हैं।

सीहोर सौराष्ट्र मंदिर गुजरात

यह सीहोर सौराष्ट्र मंदिर महर्षि गौतम के तपोवनी के नाम से प्रसिद्ध है। यहां एक गुफा में महर्षि ने स्वयंभू लिंग की खोज की और फिर भगवान् शिव मंदिर की स्थापना की, जिसे 'गौतमेश्वर मंदिर' के नाम से जाना जाता है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस मंदिर से सोमनाथ मंदिर तक के लिए एक गुप्त गुफा है।

गोशाल मनाली हिमाचल प्रदेश

यह महर्षि गौतम को समर्पित मंदिर गोशाल मनाली में है। इस मंदिर की विशेषता है कि यहां मौन व्रत धारण कर महर्षि गौतम की स्तुति की जाती है। यहां मकर संक्रांति से ४५ दिनों तक लोग मौन व्रत धारण कर महर्षि की कृपा के लिए पूजा करते हैं।

महर्षि द्वारा स्थापित अन्य मंदिर एवं आश्रम

इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में वृंदावन, मथुरा, काशी और मंदसौर, राजस्थान में माउंट आबू, जयपुर, जोधपुर, सिरोही, शिवगंज, अर्णोदा, एवं पुष्कर, तथा जम्मू काश्मीर में गौतम नाग, गौतम तपोस्थली गढ़वाल और नेपाल में पनौती में महर्षि द्वारा स्थापित मंदिर एवं आश्रम हैं।

गुरु, गुरु दीक्षा एवं गुरु महत्व

गुरु वंदना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

इस अत्यंत प्रचलित गुरु वंदन श्लोक का जैसा आप सब जानते हैं कि साहित्यिक शब्दार्थ है: गुरु ही ब्रह्मा हैं अर्थात सृजक हैं, गुरु ही विष्णु हैं अर्थात पालनहार हैं, गुरु ही शिव हैं अर्थात संहारक हैं, गुरु साक्षात परब्रह्म हैं, मैं उनको नमन करता हूँ।

अब हम इसके व्यवहारिक भावार्थ पर विवेचन करते हैं। गुरु ब्रह्मा हैं। ब्रह्मा कौन हैं? सृष्टि के सृजक एवं वेदों के रचयिता अर्थात ज्ञान के सृजक और भण्डार। गुरु सृष्टि की रचना तो नहीं करते, परन्तु ज्ञान के भंडार हैं, अतः ब्रह्मा के समान हैं या कहिए ब्रह्मा हैं। गुरु विष्णु हैं। विष्णु कौन हैं? पालक एवं रक्षक। गुरु भी अपने ज्ञान से हमें धार्मिक जीवन निर्वाह करने की प्रेरणा देते हैं, तथा अपनी दिव्य दृष्टि से हमारे संकटों को देखते हुए अपनी बुद्धिमता से हमारा मार्ग दर्शन करते हैं, रक्षा करते हैं, अतः विष्णु हैं। गुरु ही शंकर हैं। शंकर कौन हैं? प्रलय काल में शंकर इस सृष्टि का विनाश करते हैं। शंकर सभी कलाएं जैसे नृत्य कला, संगीत कला, काव्य कला, मन्त्र, तंत्र कला आदि के स्वामी हैं। गुरु सृष्टि का संहार तो अवश्य नहीं करते परन्तु शिष्य के अंदर लौकिक उपाधियों को नष्ट करते हैं। शास्त्रों में दुर्गुण जैसे काम, क्रोध, लोभ, मान अपमान, अहंकार आदि को उपाधि कहा जाता है। अवश्य ही गुरुदेव भी सभी कलाओं में निपुण हैं, अतः वह शंकर हैं। गुरु साक्षात परब्रह्म हैं। परब्रह्म कौन हैं? जिन्हें ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ज्ञान हो गया हो एवं प्रभु का साक्षात्कार हो गया हो। गुरुदेव ब्रह्मज्ञानी भी हैं और प्रभु से साक्षात्कार भी कर चुके हैं, अतः साक्षात परब्रह्म हैं। उन्हें पूर्णतः 'अहम् ब्रह्मास्मि' का बोध हो चुका है।

सार में गुरु जीवन में अंधकार मिटाने वाले हैं, और यही गुरु शब्द का शाब्दिक अर्थ है। गुरु एक संस्कृत का शब्द है, गु + रु। गु का अर्थ है अन्धेरा, एवं रु का अर्थ है, विनाशकारक। अतः गुरु का अर्थ है 'अन्धकार का विनाशकारक'। अन्धकार रूप अज्ञान को नष्ट कर प्रकाश रूप ज्ञान की ओर ले जाने वाले गुरु हैं। तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अधिकतर मुझसे प्रसन्न पूछा जाता है कि कलियुग में सद्गुरु की पहचान कैसे हो। यही मूलमंत्र गुरु के गुण भी बताता है। अतः जिस आचार्य में आप यह गुण पाएं, समझ लीजिए कि वह सद्गुरु हैं। गुरु शिष्यों के कल्याण के बारे में ही सोचते हैं। उन्हें शिष्य की धन, संपत्ति, मान आदि से कोई लगाव नहीं होता और न उन्हें इस लौकिक मान, अपमान, धन, संपत्ति आदि की परवाह होती है। अपने विवेक से जब आप आचार्य मैं इन गुणों को परखेंगे और उनकी विवेचना करेंगे तो आपको स्वयं ही भान हो जाएगा कि कौन सद्गुरु है और कौन कलियुगी गुरु।

यह भी संभव है कि जहां तक आपकी सीमित दृष्टि जाती है, वहां तक इन गुणों से युक्त आपको कोई आचार्य न मिल पाएं। शास्त्रों में इसका भी विधान है। श्रुति में दो प्रकार के गुरुओणम का उल्लेख है।

१. नियति गुरु: नियति अर्थात प्रकृति ने जो हमें गुरु दिए हैं, वह नियति गुरु कहलाते हैं। यह आचार्य गुरुओं के भी गुरु हैं, जैसे पञ्च ईश्वर - ब्रह्मा, विष्णु, शिव,, गणेश एवं देवी दुर्गा। इनके अतिरक्त सभी नारायण के अवतार जैसे श्री राम, श्री कृष्ण, श्री हनुमान जी आदि। इनके अतिरिक्त सभी ब्रह्माण्ड गुरु जैसे सूर्य देव, पवनदेव, अग्निदेव आदि।

२. अनियति गुरु: यह आचार्यों और महापुरुषों के लिए प्रयोग लाया जाता है जो पृथ्वी पर तन स्वरुप उपस्थित हैं, और जिनका चयन आप कर सकते हैं।

कहने का तात्पर्य है कि यदि अनियत गुरु से आपका साक्षात्कार नहीं हो पा रहा है, तो जो भी आपके इष्ट हैं, उन्हें नियति गुरु मानकर उनका इष्ट मन्त्र अथवा गायत्री मन्त्र के उच्चारण से उनका आवाहन करें। यह देखा गया है कि जब श्रद्धा प्रगाढ़ हो जाती है तो यह नियति गुरु स्वप्न अथवा साधना की अवस्था में दीक्षा मन्त्र दे जाते हैं।

अज्ञान रूपी अंधकार का विनाश बिना गुरु के संभव नहीं है, चाहे गुरु नियति हों अथवा अनियति, उनका होना आवश्यक है। स्मरण रहे कि जब भगवान् श्री राम और भगवान् श्री कृष्ण को भी गुरु महर्षि वशिष्ठ और गुरु महर्षि संदीपनी जी की शरण में जाना पड़ा था, तब हम साधारण मनुष्यों का उत्थान गुरु के बिना कैसे हो सकता है? श्रुति कहती है कि यह संसार एक भयावह जंगल की तरह है जहाँ माया रूपी घने वृक्ष,

गड्ढे, खाईयां और जंगली जानवर निगलने को बैठे हुए हैं। गुरु एक वह पथ प्रदर्शक हैं जो इस रास्ते से सुरक्षित निकालकर, इन मायारूपी भयावह जंगलों, सिंह, भेड़िये और खंदकों से रक्षा करते हुए, निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचाते हैं।

गुरु दीक्षा

अब हम अगले महत्वपूर्ण विषय पर आते हैं। गुरुदेव हमें यह ज्ञान कैसे देते हैं? सर्व प्रथम गुरु हमारे तन और मन अर्थात बाह्य और आतंरिक, दोनों ही अवस्थाओं का गुरुदेव शुद्धिकरण करते हैं। जब तक तन और मन शुद्ध नहीं होगा, ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरुदेव तन और मन की शुद्धि दीक्षा मन्त्र द्वारा करते हैं। जब शिष्य गुरुदेव के समीप ज्ञान हेतु जाता है, तो गुरु उसका पवित्रीकरण कर उसे दीक्षा मन्त्र देते हैं।

अब यह दीक्षा क्या है? तनिक इसको समझने का भी प्रयास करते हैं।

श्री गुरुदेव गुरु दीक्षा देकर शिष्य की आत्मा का श्री हरी से मिलन करा देते हैं। दीक्षा के संबंध में गुरू गीता २/१३१ में लिखा है:

गुरूमंत्रो मुखे यस्य तस्य सिद्धयन्ति नान्यथा ।
दीक्षया सर्वकर्माणि सिद्धयन्ति गुरूपुत्रके ।।

जिसके मुख में गुरू मंत्र है, उसके सब कर्म सिद्ध होते हैं, दूसरे के नहीं। दीक्षा के कारण ही गुरु परम्परा के माध्यम से शिष्य भगवान् से जुड़ जाता है।

'स्वयंभू अगम' ग्रन्थ में गुरु दीक्षा के विषय पर लिखा है ।

यथा मर्ग पतिम द्रष्टवा भीतो याति वने गजः ।
अधिक्षीतो अर्चये लिंगं तथा भीतो महेश्वरी ।।

जिस प्रकार हाथी वन में सिंह देखकर भयभीत हो जाता है, उसी प्रकार अदीक्षित पुरुष अथवा नारी इस भव अरण्य माया के भय से कम्पित रहता है। अर्थात गुरु के बिना नर/ नारी का भव भय मुक्त होना असंभव है।

नर जन्म को हटाकर हर जन्म बना दिया गुरु ने ।
भव भय बंधन से छुड़ाकर परम सुख दिलाया गुरु ने ।

हम मानवों के लिए मार्ग दर्शक अत्यंत आवश्यक है । यह विश्व एक उस घने जंगल के सामान है जहां ऊँचे ऊँचे वृक्षों ने सूर्यदेव के प्रकाश को पूर्ण रूप से ढक लिया है। पगडंडी दिखाई नहीं देती। ऊपर से भयावय जंगली जानवर, सर्प इत्यादि काल रूपी मुख खोले खड़े हैं। ऐसे में गुरु मार्ग दर्शाते हुए, सही पगडंडी पर चलाते हुए, खाईओं से, जंगली जानवरों से रक्षा करते हुए, गंतव्य स्थान पर ले जाते हैं ।

गुरु की कृपा और उनके अमर्त बोध से मानव परम पद पाता है। इस कारण दीक्षा मानव को अनिवार्य और अति आवश्यक है।

विश्व पथ बहुत निराला है। इसे साधारणतया समझ पाना असंभव सा लगता है। ईश्वर की कृपा से ही उसकी माया को समझना संभव हो सकता है। गुरु ईश्वर का ही एक रूप और उनकी माया समझने का एक मात्रा साधन है।

श्रुति कहती है कि दीक्षा के अभाव में सभी कर्म निष्फल होते है। किसी भी प्रकार का जप, तप तथा पूजा आदि गुरु दीक्षा बिना फलित नहीं होते। गुरु दीक्षा से गुरु के मार्ग दर्शन से करोड़ों जन्मोंके पाप दूर हो जाते है। ऐसा उल्लेख है कि जो व्यक्ति गुरु दीक्षा लिए बिना ही मृत्यु को प्राप्त होते है उन्हें 'रौरव' नर्क की यातना भुगतनी पड़ती है। जो व्यक्ति स्वत: ही ग्रंथो में से मन्त्र देखकर मंत्र जाप करने लग जाते है, किसी को गुरु स्वीकार कर दीक्षित नहीं होते, उनकी मन्त्र सिद्धि कभी नहीं होती, इसके विपरीत विभिन्न प्रकार की व्याधि एवं मानसिक, शारीरिक रोगों से पीड़ित होकर अनेक जन्मों तक अन्यन्य प्रकार के नर्को में यातनाएं पाते रहते है।

दीक्षा एक संस्कृत का शब्द है जिसमें दो व्यंजन और दो स्वर मिले हुए हैं:

"द", "ई", "क्ष", "आ"

“द” का तात्पर्य दमन, दया और दान से लगाया गया है। दमन शब्द इन्द्रियों के दमन के लिए प्रयोग लाया गया है। इस 'द' शब्द का उद्भव कैसे हुआ, इस हेतु एक पौराणिक कथा प्रचलित है। सृष्टि के आरम्भ में सुर, असुर और मनुष्य, तीनों ब्रह्मदेव से ज्ञान प्राप्त करने हेतु ब्रह्मलोक में गए। उस समय ब्रह्मदेव साधना में लीन थे, अतः तीनों उनकी स्तुति करने लगे। जब ब्रह्मदेव साधना से जागे तब उन्होंने एक शब्द का

उच्चारण किया और वह शब्द था 'द'। देवताओं ने इसका अर्थ लगाया दमन, इन्द्रियों का दमन। चूंकि देवता भोग विलास में अधिक लिप्त रहते हैं, अतः उन्हें इन्द्रियों के दमन की आवश्यकता थी। असुरों ने इसका अर्थ दया लगाया। चूंकि असुरों का प्राकृतिक स्वभाव क्रूर होता है, अतः उन्हें दया की आवश्यकता थी। मनुष्य ने इसका अर्थ दान लगाया। मनुष्य भविष्य की चिंता में सदैव धन, सम्पत्ति आदि संचय करने में लगा रहता है, अतः उसे दान की आवश्यकता थी। इस प्रकार यह 'द' शब्द दमन, दया और दान का प्रतीक बन गया ।

दीक्षा में इस 'द' शब्द के माध्यम से गुरुदेव हमें दमन, दया और दान की शिक्षा देते हैं।

"ई" का तात्पर्य ईश्वर उपासना है। विषयातीत मानसिक बुद्धि को सद्गुरु और शास्त्र के द्वारा बतायी हुई विधि के अनुसार परमात्मा में एक ही भाव से स्थिर रखने का नाम ईश्वर उपासना है। गुरुदेव दीक्षा के माध्यम से यही शिक्षा देते हैं। बिना ईश्वर उपासना और उनकी कृपा के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करा लेना असंभव है।

"क्ष" का तात्पर्य क्षय है। से है। क्षय अर्थात विनाश। विनाश किसका, उपाधियों का। उपाधि जैसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मान, अपमान, अहंकार आदि। गुरुदेव दीक्षा के माध्यम से हमारी बाह्य और आतंरिक सभी उपाधियाओं का विनाश करते हैं।

जब गुरुदेव इन्द्रियों का दमन, दया और दान भाव जाग्रत कर देते हैं, ईश्वर में अटूट श्रद्धा जाग्रत कर देते हैं, सभी उपाधियों का विनाश कर देते हैं, तब तन और मन शुद्ध हो जाता और आनंद की प्राप्ति होती है।

दीक्षा में 'आ' शब्द का यही तात्पर्य है। 'आनंद'। तब अंतःकरण में दिव्य चेतना का प्रकाश होने लगता है, प्रसन्नता, समता और प्रेम प्रकट होने लगता है, जीव भाव, शिव भाव में परिवर्तित हो जाता है, यही आनंद है। आनंद केवल एक विषय का अनुभव है। इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

दीक्षा लक्ष्य की प्राप्ति पर तन और मन पवित्र हो जाते हैं। विश्व ईश्वरीय प्रतीत होने लगता है। साधना में ईश्वर से साक्षात्कार होने लगता है। तब शिष्य ब्रह्मज्ञान के लिए

तैयार हो जाता है और गुरुदेव उसे ब्रह्मज्ञान, अर्थात आत्मा और ब्रह्म के एकत्व का ज्ञान देते हैं।

यह एक लम्बी प्रक्रिया है। इसमें सदैव गुरुदेव और ईश्वर के प्रति अटूट श्रद्धा और धैर्य की आवश्यकता है। धैर्य शब्द से एक पौराणिक कथा की स्मृति आ गई। एक युवा ब्राह्मण को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हुई। ब्रह्मज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इस विषय में उसने अपने विद्वान मित्रों से सलाह ली। सभी का एक मत था, किन्हीं ब्रह्मज्ञानी गुरुदेव का शिष्य बनकर उनसे दीक्षा लेकर ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करना। उत्सुकतावश उसने अपने इन विद्वान मित्रों से पूछा कि इस ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में कितना समय लग सकता है। सभी का फिर भी एक ही मत था। यह तो तुम्हारी प्रतिभा पर निर्भर करता है, फिर भी कम से कम दस वर्ष, अथवा बीस वर्ष और पूर्ण आयु भी लग सकती है। कभी कभी तो कई जन्म लग जाते हैं। यह सुन युवा ब्राह्मण निराश हुआ। उसमें इतना धैर्य नहीं था कि वह दस वर्ष भी प्रतीक्षा कर सके। फिर उसे तत्काल ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने का एक उपाय सूझा। मैं और मेरा परिवार सूर्यदेव का उपासक है। सूर्यदेव हमारे इष्ट हैं। सूर्यदेव से अधिक ब्रह्मज्ञानी कौन हो सकता है? उन्होंने तो हनुमान जी को भी ब्रह्मज्ञान दिया था। बस नदी के किनारे एक हवन कुंड बनाया और यज्ञ के माध्यम से सूर्यदेव के इष्ट मन्त्र से उनका आवाहन करने लगा।

"ॐ घृणि सूर्याय नमः"। "ॐ सूर्याय नमः।

हृदय की पुकार थी। सूर्यदेव कुछ समय में ही उसके समक्ष प्रकट हो गए और बोले, 'क्या चाहिए वत्स'।

युवा ब्राह्मण बोले, 'प्रभु यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे ब्रह्मज्ञान दीजिए।'

सूर्यदेव बोले, 'पुत्र, ब्रह्मज्ञान के लिए मुझे पुकारने की क्या आवश्यकता थी? तुम किन्हीं भी ब्रह्मज्ञानी गुरु के शिष्य बन यह उनसे सुलभता से प्राप्त कर सकते थे। मैं तो चलायमान हूँ, एक स्थान पर कभी ठहरता नहीं और ब्रह्मज्ञान देने के लिए मुझे स्थिर होना पड़ेगा, जो संभव नहीं है। मैं यही कहूंगा कि तुम एक उचित ब्रह्मज्ञानी गुरु के शिष्य बनकर ही यह ब्रह्मज्ञान प्राप्त करो।'

युवा ब्राह्मण बोले, 'प्रभु मैंने इस पर विचार किया था, लेकिन उस प्रक्रिया में बहुत समय लगता है। मुझे तो तुरंत ब्रह्मज्ञान चाहिए और वह केवल आप दे सकते हैं।'

सूर्यदेव ने युवा ब्राह्मण को बहुत समझाने का प्रयास किया परन्तु युवा ब्राह्मण इस पर अडिग था कि उसे सूर्यदेव से अभी ब्रह्मज्ञान चाहिए। सूर्यदेव ने कुछ सोचा और बोले, 'उचित है। मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान अवश्य दूंगा पर मुझे कुछ समय दो।'

युवा ब्राह्मण प्रसन्न हो गया और बोला, 'प्रभु, आप समय अवश्य लीजिए, परन्तु कृपया वर्षों नहीं '।

सूर्यदेव मुसकुराए और बोले, 'नहीं वत्स, मैं वर्षों नहीं, कुछ सप्ताहों में ही दोबारा मिलूंगा '। यह कर सूर्यदेव अंतर्ध्यान हो गए।

युवा ब्राह्मण का एक नियम था कि वह ब्रह्म-मुहूर्त में स्नान, ध्यान आदि के लिए नदी तट पर जाते थे। कुछ सप्ताहों बाद सूर्यदेव एक वृद्ध का रूप धारण कर तथा साथ में एक रेत से भरी बोरी ले कर नदी तट पर बैठ गए। जब युवा ब्राह्मण का नित्य क्रिया करने हेतु नदी तट पर आगमन हुआ तो कुछ बुदबुदाते हुए वह रेत की एक मुट्ठी नदी के जल में डालने लगे। यही प्रक्रिया वह बार बार दोहराने लगे। युवा ब्राह्मण को उत्सुकता हुई कि वृद्ध व्यक्ति यह क्या कर रहा है? वह वृद्ध व्यक्ति के पास पहुंचे। शिष्टाचार में उनके चरण स्पर्श किए और पूछा, हे सम्माननीय वृद्ध, यह आप क्या कर रहे हैं? रेत की मुट्ठी भर भर नदी के जल में क्यों डाल रहे हैं?

तब वृद्ध के रूप में सूर्यदेव बोले , 'पुत्र मैं नदी के दूसरे तट पर जाना चाहता हूँ और पुल बनाने का प्रयास कर रहा हूँ?'।

युवा ब्राह्मण को अचम्भा हुआ और बोले, 'इस मुट्ठी भर रेत से पुल कैसे बन जाएगा, मैं समझा नहीं?'

वृद्ध बोले, 'लगता है तुम मूर्ख हो। रेत डालने से एक टापू रूप पुल बनेगा और मैं सहज ही उस पुल से नदी पार कर जाऊँगा। '

अब तो युवा ब्राह्मण का धैर्य टूट गया। वह बोले, 'हे वृद्ध पुरुष, आयु के साथ लगता है आपकी बुद्धि भी वृद्ध हो गई है। मूर्ख मैं नहीं, आप हैं। आप इतना भी नहीं समझते कि पुल बनाने की एक प्रक्रिया होती है। पहले ज्ञानी अभियंता मानचित्र बनाते हैं। फिर नदी को एक स्थान से बाँध बना कर रोका जाता है, फिर स्तम्भ बनाए जाते हैं। फिर स्तम्भों को जोड़कर सड़क बनाई जाती है। यह एक कठिन परिश्रम वाली प्रक्रिया है, जिसमें वर्षों लगते हैं। इस प्रकार रेत से पुल नहीं बनते।'

अब सूर्यदेव अपने स्वरुप में प्रकट हो गए और बोले, 'वत्स, यही तो समझाने का मैं तुम्हें प्रयास कर रहा हूँ। जब एक पुल जैसी छोटी सी वस्तु के लिए वर्षों लगते हैं और एक प्रक्रिया के माध्यम से जाना पड़ता है, तो ब्रह्मज्ञान तो बहुत बड़ी वस्तु है। बिना धैर्य और प्रक्रिया के कैसे प्राप्त कर सकते हो?'

युवा ब्राह्मण की समझ में अब आ गया। उसने सूर्यदेव को प्रणाम किया, अपने कृत्य पर क्षमा माँगी और सद्गुरु की खोज में निकल पड़ा।

इस कहानी से हमें शिक्षा मिलती है कि जब आप ब्रह्मज्ञान हेतु गुरुदेव के समीप जाएं तो धैर्य रखें और गुरुदेव के आदेशानुसार प्रक्रिया का पालन करें। गुरुदेव कोई जादूगर नहीं हैं कि आपके सर पर हाथ रखा और आपको ब्रह्मज्ञान मिल गया।

यदि अपना कल्याण चाहते हो, तो गुरुदेव के समीप जा उनका शिष्य बनो, उनसे दीक्षा लो। उनके चरणों को कसकर पकड़ लो। स्मरण है न मकर की कथा। जब नदी में एक मकर ने प्रभु भक्त गजराज का पैर पकड़ लिया और इतना कस कर पकड़ लिया कि गजराज के पूर्ण प्रयास के बाद भी उसने नहीं छोड़ा तब स्वयं नारायण को मकर के मोक्ष के लिए अवतरित होना पड़ा। हम भी तो मकर के समान हीं हैं। जब तक प्रभु भक्त संत अथवा सद्गुरु के चरण नहीं पकड़ेंगे, जीवन का लक्ष्य कैसे पाएंगे?

श्रुति कहती है कि दीक्षा के अभाव में सभी कर्म निष्फल होते है। किसी भी प्रकार का जप, तप तथा पूजा आदि गुरु दीक्षा बिना फलित नहीं होते। गुरु दीक्षा से गुरु के मार्ग दर्शन से करोड़ो जन्मों के पाप दूर हो जाते है। ऐसा उल्लेख है कि जो व्यक्ति गुरु दीक्षा लिए बिना ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं, उन्हें 'रौरव' नर्क की यातना भुगतनी पड़ती है।

जो व्यक्ति स्वत: ही ग्रंथो में से मन्त्र देखकर मंत्र जाप करने लग जाते है, किसी को गुरु स्वीकार कर दीक्षित नहीं होते, उनकी मन्त्र सिद्धि कभी नहीं होती। इसके विपरीत विभिन्न प्रकार की व्याधि एवं मानसिक, शारीरिक रोगों से पीड़ित होकर अनेक जन्मों तक अन्यन्य प्रकार के नर्को में यातनाएं पाते रहते है।

सनातन समय से ही श्री गुरुदेव द्वारा गायत्री मन्त्र से दीक्षित करने की प्रथा रही है। श्री गुरुदेव का उद्देश्य सर्व प्रथम अपने शिष्य को सांसारिक कष्टों से छुटकारा दिलाकर शान्ति की अनुभूति कराना है। श्री गुरुदेव जानते हैं कि इसके लिए बुद्धि का शुद्ध होना एवं प्रवर्तियों का सात्विक होना अत्यंत आवश्यक है। बुद्धि शुद्ध होने पर आत्म विकास की प्रेरणा जागती है तथा शिष्य लौकिक एवं परलौकिक असीम सुखों को भोगने का अधिकारी बनता है।

गायत्री मन्त्र ऐसा ही सद्बुद्धि प्रदाता, प्रेरणादायक और मानव कल्याणकारी मन्त्र है। यह मन्त्र व्यक्तिगत और सामाजिक, सभी उच्च जीवन मूल्यों को ग्रहण करने की प्रेरणा देता है। संक्षेप में, यह मन्त्र मानव मात्र का सम्पूर्ण जीवन है।

अथर्व वेद १९/७१/१ में गायत्री मन्त्र के बारे में उल्लेख है :

ओ३म् स्तुता मया वरदा वेदमाता ।
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्तवा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।

मैंने इष्ट फल देने वाली वेद माता गायत्री का स्तवन अर्थात् अध्ययन कर लिया है। हे गुरुजनो, इस का मुझे और प्रवचन कीजिये। द्विजन्मों एवं द्विजों को यह वेद माता पवित्र करती है। स्वस्थ और दीर्घ आयु, प्राणविद्या, उत्तम सन्तानों, पशुपालन, पुण्य और यश, धनोपार्जन विद्या, ब्रह्म के तेज स्वरूप का परिज्ञान व इनका सदुपदेश मुझे देकर, हे गुरुजनों, आलोकमय ब्रह्म तक मुझे पहुंचाइये।

गायत्री मन्त्र की अनुभूति सम्राट विश्वरथ को उनकी साधना की अवधि में हुई थी। साधना में उन्हें एक तीव्र प्रकाश का भाव हुआ जिसका स्थान शीघ्र ही एक देवी की

आकृति ने ले लिया। उस देवी के पाँच सिर थे जो भिन्न दिशाओं में देख रहे थे। उस देवी के दस हाथों में त्रिदेव के पास रहने वाले सभी अस्त्र थे। देवी शक्ति के दर्शन करते ही सम्राट विश्वरथ बैठकर नतमस्तक हुए और स्वतः ही उनके मुख से संस्कृत का एक श्लोक निकल पड़ा:

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं ।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

हे तीनों लोकों की स्वामिन, मैं आपके प्रकाशमान रूप का ध्यान करता हूँ। आपका यह रूप मेरी बुद्धि को सदैव उचित मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे।

इससे पहले कि हम इस गायत्री महामंत्र के महात्मय, जपविधि और लाभ इत्यादि के बारे में चर्चा करें, चलिए जानें कि यह सम्राट विश्वरथ कौन थे, जिनको माँ गायत्री ने सर्व प्रथम गायत्री मन्त्र की दीक्षा दी। इसके पश्चात ब्रह्मदेव ने उन्हें ब्रह्मऋषि विश्वामित्र की उपाधि से विभूषित किया।

गुरु महत्व

सृष्टि के आरंभ से ही गुरु की अनिवार्यता पर प्रकाश डाला गया है। वेदों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, श्रीमद्भागवदगीता, गुरुग्रन्थ साहिब आदि सभी धर्मग्रन्थों एवं सभी महान संतों द्वारा गुरु की महिमा का गुणगान किया गया है। गुरु और भगवान में कोई अन्तर नहीं है। गुरु ही अनंत हैं।

किसी भी प्रकार की विद्या अथवा ज्ञान हो, उसे दक्ष गुरु ही सिखाने में समर्थ हैं। जप, तप, यज्ञ, दान आदि की विधि में गुरु का दिशा निर्देशन आवश्यक है। शास्त्रों में ऐसा वर्णित है कि अविधिपूर्वक किए गए शुभ कर्म भी व्यर्थ ही सिद्ध होते हैं, उनका कोई उचित फल नहीं मिलता। स्वयं की अहंकार की दृष्टि से किए गए सभी उत्तम माने जाने वाले कर्म भी मनुष्य के पतन का कारण बन जाते हैं, अतः भौतिकवाद में भी गुरू के ज्ञान दर्शन की अत्यंत आवश्यकता है।

गुरु के महत्व की एक झलक भगवान् आदि गुरु श्री शंकराचार्य द्वारा रचित 'श्री विवेक चूणामणि' में स्पष्ट देखी जा सकती है।

पंडित ज्ञानी सब ग्रंथा, पूजत देव विकसित संधा।
चाहे करत सदा शुभ कर्मा, ब्रह्महीन समान वृक्ष उर्मा।।

चाहे सब ग्रंथो का पंडित ज्ञानी हो, सभी देवों की पूजा कर उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये हों, सदैव शुभ कर्म करता हो, ऐसा मनुष्य अगर आत्मज्ञान रहित है (ब्रह्म का ज्ञान नहीं है) तो वह खजूर के वृक्ष के समान है।

जब तक न हो आत्म बोधन, पा न सके मुक्ति सौ पदन।
आत्मबोध जस अमृता, युक्ति अन्य सम पाय विषयता।।

जब तक आत्मज्ञान नहीं होता, तब तक मुक्ति नहीं मिलती चाहे सौ जन्म बीत जाएँ। आत्मज्ञान अमृत की तरह है जबकि और उपर्युक्त साधन धन, धान्य और ऐश्वर्य प्राप्ति के हैं।

कर्म न साधन मुक्ति हेतु, आत्मज्ञान अद्वितीय भवसेतु ।
गुरु समर्पित बुद्धिमाना, अर्जित ज्ञान पाएं निरवाना ।।

कर्म द्वारा मुक्ति (मोक्ष) नहीं मिल सकती। आत्मज्ञान ही इस भवसागर का सेतु है। इसलिये ज्ञानी लोग अपने आप को गुरु को समर्पित कर निर्वाण (आत्मज्ञान) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। गुरु ही आत्मज्ञान देने में समर्थ है।

गुरु के महत्व पर संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरितमानस में लिखा है।

गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई । जों बिरंचि संकर सम होई ।।

‘भले ही कोई ब्रह्मा या शंकर के समान ही क्यों न हो, गुरु के बिना भव सागर पार करना असंभव है। ‘

संत शिरोमणि तुलसीदास जी श्री रामचरितमानस में आगे लिखते हैं ।

बंदउँ गुरु पद कंज कृपा सिंधु नररूप हरि ।
महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर ।।

'गुरू मनुष्य रूप में नारायण ही हैं। मैं उनके चरण कमलों की वन्दना करता हूँ। जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धेरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही उनके वचनों से मोह रूपी अन्धकार का नाश हो जाता है।'

माता शबरी से अरण्य वन में मिलन पर भगवान् श्री राम ने माता को नवविधाभक्ति का ज्ञान देते हुए गुरु के चरणों की सेवा भक्ति के रूप में बताई है।

गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान ।

‘तीसरी भक्ति है अभिमान रहित होकर गुरु के चरण कमलों की सेवा।’

महान संत श्री कबीर दास जी का साहित्य तो गुरु महत्व और वंदन से भरा पड़ा है। संत कबीर दास जी कहते हैं कि सबसे बड़ा तीर्थ स्वयं गुरुदेव ही हैं जिनकी कृपा से फल अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। गुरुदेव का निवास स्थान ही हम मनुष्यों के लिए तीर्थ स्थल है। उनका चरणामृत ही गंगा जल है। वह मोक्ष प्रदान करने वाला है।

तीरथ गए तो एक फल, संत मिले फल चार ।
सद्गुरु मिले तो अनन्त फल, कहे कबीर विचार ।।

संत कबीर दास जी आगे कहते हैं मनुष्य का अज्ञान यही है कि वह भौतिक जगत को ही परम सत्य मान लेता है और उसके मूल कारण चेतन को भुला देता है। सृष्टि की समस्त क्रियाओं का मूल चेतन शक्ति ही है। चेतन मूल तत्व को न मान कर जड़ शक्ति को ही सब कुछ मान लेना अज्ञानता है। इस अज्ञान का नाश कर, परमात्मा का ज्ञान कराने वाले गुरू ही होते हैं। इस अज्ञान को दूर करने के लिए गुरुदेव की शरण में जाना अत्यंत आवश्यक है।

गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रथम आवश्यकता समर्पण की होती है। समर्पण भाव से ही गुरु का प्रसाद हमको मिलता है। हमें अपना सर्वस्व समर्थ गुरुदेव के चरणों में समर्पित कर देना चाहिए।

संत कबीर दास जी कहते हैं:

यह तन विष की बेलरी, और गुरू अमृत की खान ।
शीश दियां जो गुरू, मिले तो भी सस्ता जान ।।
गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न मोष ।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटे न दोष ।।

गुरु को गोविंद से भी ऊँचा बताया है।

गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पायं ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय ।।

कबीर दास जी कहते हैं कि यदि गुरु और गोविन्द दोनों खड़े हों, तो मैं सर्व प्रथम गुरु के चरण स्पर्श करूंगा। अब सोचिए। यदि गोविन्द रुष्ट हो जाएं तो गुरु उन्हें प्रसन्न करने का उपाय बता देंगे। लेकिन यदि गुरु रुष्ट हुए तो गोविन्द पृथ्वी पर अवतरित हो गुरु को प्रसन्न करने का उपाय बताने वाले नहीं हैं।

माता सहजो बाई कहती हैं:

राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने जन्म दियो जग माहीँ, गुरु ने आवागमन छुड़ाईं |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने पाँच चोर दिए साथा, गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने कुटुम्ब जाल में घेरी, गुरु ने काटी ममता बेड़ी |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने रोग भोग उरझायू, गुरु जोगी कर सबई छुड़ायू |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने कर्म भर्म भर्मायू, गुरु ने आतम रूप दिखायू |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
हरि ने मोसूँ आप छिपायो, गुरु दीपक दे ताहि दिखायो |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
फिर हरि बँध-मुक्ति गति लाए, गुरु ने सब ही भर्म मिटाए |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||
चरणदास पर तन मन वारूं, गुरु ना तजू हरि को तज डारूँ |
राम तजूँ पै गुरु ना विसारूँ, गुरु के सम हरि को ना निहारूं ||

इस पद में सहजो बाई ने गुरुदेव के प्रति विनम्र एवं आत्मीय भाव में अपने मन के भाव उजागर कर दिए| सहजो बाई ने सार-दर-सार सत्य को प्रकट कर दिया|
इस पद के द्वारा सहजो बाई ईश्वर को भी सन्देश देती हैं| गुरु के सम हरि को न निहारूं, अर्थात जिस मन से, भाव से, आदर से, समर्पण से, श्रद्धा, आस्था से मैं अपने गुरु को देखती हूं, उससे हे हरि, मैं तुम्हें भी नहीं देखती| गुरु के दर्शन मात्र से ही मन

प्रफुल्लित हो जाता है, मैंने इस भाव को जान किया है| गुरु दर्शन से हृदय को ऐसी शान्ति मिलती हैं जैसे कोई बहुत बड़ा अनमोल कोष पा लिया हो|

सहजो बाई आगे कहती हैं, ‘हरि ने जन्म दिया जग मांहि, गुरु ने आवागमन छुड़ाई|' हम भूजन चौरासी लाख योनियों के चक्कर काटते रहते हैं, जन्म, मृत्यु, फिर जन्म| यह क्रम तो समाप्त ही नहीं होता| परन्तु गुरु ने ऐसी सीख सिखाई, ऐसी विधि बताई कि आवागमन की बात ही समाप्त कर दी|

सहजो बाई आगे कहती हैं कि हरि ने कुटुम्ब जाल में फंसा कर माया मोह में डाल दिया, परन्तु 'गुरु ने काटी ममता बेड़ी'| इस संसार में जिस का आप से स्वार्थ पूरा हो, वह तो प्रसन्न हो जाता है और जिस के मन अनुसार आपने कार्य नहीं किया, वह क्रोधित हो जाता है| गुरु ने इस मोह ममता की डोरी ही काट दी| सारा झंझट ही समाप्त कर दिया| यद्यपि संभवतः यह सुलभ तो नहीं है पर गुरु का आदेश मान लो, सच्चाई को जान लो, गुरु की मान लो तो कल्याण हो जायेगा| गुरुदेव कहते हैं, परिवार से प्रेम करो पर मोह में मत फंसों| यही तो जीवन में प्रसन्नता एवं आनन्द अनुभव करने का रहस्य है|

सहजो बाई आगे सन्देश देती हैं कि 'हरि ने रोग भोग में उलझाया| गुरु ने जोगी बन कर यह सब छुड़ाया|' भगवान ने तो शरीर दिया| शरीर तो रोगों का घर है| भोगों में लालायित क्षणिक सुख की अनुभूति शरीर को रोगी बना देती है| मनुष्य काम, क्रोध, मोह, लोभ में कितने अनुचित कार्य करता है| इन दुर्गुणों के कारण अपने लिये स्वयं संकट ले लेता है| गुरु, शिष्य को इन भोगों के प्रति उदासीन बना कर उसे मुक्त कर देता है|

सहजो बाई आगे कहती हैं, 'हरि सर्वशक्तिमान हैं| सर्व नियन्ता हैं| सब कुछ उन्हीं के बस में है| सब कुछ करने वाले वही हैं किन्तु दृष्टिगोचर नहीं होते| स्वयं को छुपा कर रखा हुआ है| और गुरु, जिन्होंने इतने उपकार किये, उन के साक्षात दर्शन करना सुलभ है| उनके देव रूपी स्वरूप को देख कर धन्य हो जाओ, बात कर लो, आशीष ले लो, गुरु की कृपा पा लो, साक्षात दर्शन करो|’

गुरु की कृपाओं से धन्य सहजो बाई अपने सद्गुरु संत शिरोमणी श्री चरण दास पर तन-मन वार कर कहती हैं| मेरा निर्णय ठीक ही कि 'गुरु न तजूँ, हरि तज दूँ|'

गुरु की आवश्यकता के बारे में श्री सद्गुरु शिर्डी साईं नाथ ने 'श्री साईं सच्चरित्र' में भली भाँति समझाया है। श्री सद्गुरु शिर्डी साईं बाबा ने कहा कि है जब भगवान् श्री राम और भगवान् श्री कृष्ण को भी गुरु महाऋषि वशिष्ठ और गुरु महाऋषि संदीपनी जी की शरण में जाना पड़ा था, तब हम साधारण मनुष्यों का उत्थान गुरु के बिना कैसे हो सकता है?

शिर्डी साईं ने आगे कहा है कि यह संसार एक भयावह जंगल की तरह है जहाँ माया रूपी घने वृक्ष, गड्ढे, खाईयां और जंगली जानवर निगलने को बैठे हुए हैं। गुरु एक वह पथ प्रदर्शक हैं जो इस रास्ते से सुरक्षित निकालकर, इन मायारूपी भयावह जंगलों, सिंह, भेड़िये और खंदकों से रक्षा करते हुए, निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचाते हैं।

एक अन्य संत द्वारा गुरु महत्व का कितना अच्छा चित्रण है ।

गुमनामी के अँधेरे में था, एक पहचान बना दिया ।
दुनिया के गम से मुझे, उन्होंने अनजान बना दिया ।।
गुरुजी की ऐसी कृपा हुई, मुझे अच्छा इंसान बना दिया ।।

गुरु जब शिष्य को स्वीकार कर दीक्षा देते हैं तभी से उसका उत्थान प्रारम्भ हो जाता है। गुरु ज्ञान के प्रति शंका करने से शिष्य का पतन होता है, ऐसा सनातन धर्म शास्त्रों में उल्लेख है।

सद्गुरु एक ऐसी शक्ति है जो शिष्य की सभी प्रकार के कष्टों से रक्षा करती है। शरणागत शिष्य के दैहिक, दैविक, भौतिक कष्टों को दूर करने एवं उसे बैकुंठ धाम में पहुंचाने का दायित्व गुरु का होता है।

आनन्द अनुभूति का विषय है। बाह्य वस्तुएँ कुछ शारीरिक सुख सुवधाएं तो दे सकती हैं किन्तु मानसिक शांति नहीं। मानसिक शांति के लिए गुरु के चरणों में आत्म समर्पण

करना परम आवश्यक है। गुरुदेव का ध्यान मनुष्य को नारायण स्वरूप बना देता है एवं उसे मुक्ति का अनुभव होने लगता है।

ब्रह्म निराकार है इसलिए उनका ध्यान करना अत्यंत कठिन प्रतीत होता है। परन्तु गुरुदेव के ध्यान से निराकार ब्रह्म साकार में परवर्तित हो जाता है। गुरुदेव स्वयं नारायण स्वरूप हैं, अतः उनके नित्य ध्यान से जीव नारायणमय हो जाता है।

भगवान श्री कृष्ण ने गुरु रूप में शिष्य अर्जुन को यही संदेश दिया था।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।। (गीता १८/६६)

भगवान् कृष्ण कहते हैं, 'हे पार्थ, सभी साधनों को छोड़कर केवल नारायण स्वरूप गुरु की शरणगत हो जाना चाहिए। वह उसके सभी पापों का नाश कर देंगे। शोक नहीं करना चाहिए।'

जिनके दर्शन मात्र से मन प्रसन्न होता है, धैर्य और शांति की अनुभूति होती है, वह परम गुरु हैं। जिनके रोम रोम में ब्रह्म का तेज व्याप्त है, जिनका मुख मण्डल तेजोमय है, जिनके मुख मण्डल से निकली आभा से प्रभावित हुए बिना कोई नहीं रह सकता, ऐसे सद्गुरु को हम प्रणाम करते हैं।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिम्।
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षीभूतम्।
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुंतं नमामि ।।

ब्रह्म में लीन गुरु आनंद दाता हैं। वह अनंत हैं। वह ज्ञान के भण्डार हैं। भेद भाव से दूर वह आसमान की तरह अनंत हैं। ऐसे अन्तर्यामी एवं पवित्र आत्मा को मैं प्रणाम करता हूँ। यह मानव शरीर बड़े यत्न से प्राप्त हुआ है। गुरु से दीक्षा ले, हे मनुष्य, इस शरीर को पावन बना अपने लक्ष्य की (निर्वाण) प्राप्ति कर।

गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं:

बड़े भाग मानुष तन पावा । सुर दुर्लभ सद् ग्रन्थन्हि गावा ।।
साधन् धाम मोक्ष कर द्वारा । पाई न जेहिं परलोक सँवारा ।।

आधुनिक युग में कईओं का ऐसा विश्वास है कि गुरु सांसारिक सफलता प्रदान करने की एक सीढ़ी हैं। यह सर्वथा भ्रम है। गुरु का संसर्ग सन्मार्ग दिखाते हुए भगवान् की प्राप्ति के लिए होता है, कोई सांसारिक सुख सुविधाएं देने के लिए नहीं।

सिद्ध पुरुषों एवं गुरु की अनुकम्पा मात्र लोकहित एवं सत्प्रवर्ति संवर्धन के निमित्त मात्र ही होती है। किसी को ख्याति, सम्पदा अथवा कीर्ति दिलाने के लिए उनकी कृपा नहीं बरसती। विराट ब्रह्म-विश्व मानव ही उनका आराध्य होता है। उसी के निमित्त अपने शिष्यों को वह लगाते हैं। स्मरण कीजिए गुरु-शिष्य सम्बन्ध इन महान विभूतिओं का, श्रीरामकृष्ण परमहंस-स्वामी श्री विवेकानंद, समर्थ गुरु श्री राम दास-क्षत्रपति श्री शिवाजी महाराज, गुरुदेव श्री चाणक्य-सम्राट चन्द्रगुप्त, महात्मा भगवान् बुद्ध- चक्रवर्ती सम्राट अशोक इत्यादि। जिनकी आत्मीयता में लोकहित एवं सत्प्रवर्ति संवर्धन ना होकर सिद्धि-चमत्कार, कौतिक-कौतूहल, दिखाने या सिखाने का क्रिया-कलाप चलता रहा हो, वहां समझना चाहिए कि गुरु और शिष्य की क्षुद्र प्रवृति है और जादूगर जैसा कोई खिलवाड़ चल रहा है।'

मेरे अपने गुरुदेव कहा करते थे, 'हे मानव, गुरु के चरणों में अपने को समर्पित कर अपने जीवन का उद्देश्य उसी प्रकार प्राप्त कर जिस प्रकार स्वामी दयानन्द जी ने अपने गुरु स्वामी विरजानन्द जी महाराज के चरणों में समर्पण कर अपना उत्सर्ग किया। स्वामी विवेकानंद जी ने जिस प्रकार अपना जीवन अपने गुरु परमहंस श्री रामकृष्ण महाराज के चरणों में समर्पित कर अपनी सभी इच्छाएं समाप्त कर, गुरु को संतोष करने वाले कष्ट साध्य कार्य में प्रवृत्त होते हुए, जन कल्याण किया। स्मरण रख, श्री हनुमान जी का त्याग जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में सब कुछ खोकर, संत तुल्य बन, अपना जीवन श्री राम के चरणों में अर्पित कर दिया था। अपने गुरु श्री राम की कृपा और उनके बल से असाध्य कार्य जैसे समुद्र छलांगना, पर्वत उखाड़ना, लंका जलाना इत्यादि कर सकने में समर्थ हो सके। भगवान् श्री राम की कृपा होने से पहले इतना भी सामर्थ्य नहीं था कि अपने प्रिय मित्र सुग्रीव को उसके भाई वानरराज बालि के

अत्याचार से मुक्त करा सकें। सपर्पण ही था जिसने एकात्मा उत्पन्न कर दी। गंदे नाले में थोड़ा गंगा जल गिर पड़े तो वह गन्दगी बन जाता है। यदि बहती हुए पवित्र गंगा में थोड़ी गन्दगी मिल जाए तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। गन्दगी माँ गंगा के साथ से पवित्र हो जाती है।'

गुरु महत्वा बताते हुए गुरुदेव ने आगे दर्शाया, 'हे मानव, संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुहँ मोड़कर अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के साथ आगे बढ़। अपने को पवित्र और प्रखर बनाने के लिए तपस्चर्या में जुट जा।'

ब्रह्मऋषि विश्वामित्र

पारिवारिक परिचय

सतयुग (काल) में कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) देश के महाप्रतापी चक्रवर्ती सम्राट गाधि अब वृद्ध हो चुके थे। प्रजापति के पुत्र चक्रवर्ती सम्राट कुश, इनके पुत्र सम्राट कुशनाभ और इनके पुत्र सम्राट गाधि थे। सम्राट गाधि के हृदय में वैराग्य भावना दिन प्रति दिन प्रगाढ़ होती चली जा रही थी। अतः एक दिन उन्होंने अपने पुत्र राजकुमार विश्वरथ (महर्षि विश्वामित्र का जन्म नाम) को राज-पाट सौंप वाणप्रस्थ साधना हेतु वन में प्रस्थान करने का निश्चय किया। राजकुमार विश्वरथ एक कुशल सम्राट के समस्त गुणों से युक्त थे फिर भी सम्राट गाधि ने उन्हें एक वर्ष के लिए अपनी देख रेख में शासन संभालने का आदेश दिया। राजकुमार विश्वरथ ने तब अपने पिता गाधि के मार्ग दर्शन में एक वर्ष तक शासन किया। उनकी प्रशासन कौशलता से आश्वासित सम्राट गाधि तब पूर्णतः साम्राज्य राजकुमार विश्वरथ को सौंप वन चले गए। इसी मध्य साम्राज्य को सुदृढ़ता प्रदान करने के लिए राजकुमार विश्वरथ ने तीन भिन्न, परन्तु अत्यंत शक्तिशाली देशों की राजकुमारियों से विवाह किया, काशी की राजकुमारी शालवती, मगध की राजकुमारी रेणुमति तथा मत्स्य देश की राजकुमारी दृष्द्वती।

पिता सम्राट गाधि अति विनम्र एवं संतुष्टि प्रकृति के शासक थे। उन्होंने अपने सभी पड़ोसी देशों से मित्रता पूर्वक सम्बन्ध रखे, तथा उनके राज्यों को अपने राज्य में विलय करने की कभी कोई इच्छा प्रदर्शित नहीं की। इसके विपरीत सम्राट विश्वरथ अत्यंत महत्त्वाकांक्षी शासक थे। उन्होंने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही अपने साम्राज्य विस्तार की योजना को फलीभूत करना प्रारम्भ कर दिया। एक अत्यंत शक्तिशाली सेना सृजित की तथा युद्ध में आस पास के समस्त राजाओं को हरा कर उनके राज्यों को अपने राज्य में विलय कर चक्रवर्ती सम्राट होने के अपने स्वप्न को साकार करने लगे।

कामधेनु गौ हरण प्रयास

विश्व विजय करते हुए एक बार सम्राट विश्वरथ की सेना महर्षि वशिष्ठ जी के आश्रम के समीप पहुँची। वहां का दृश्य देखकर वह आश्चर्यचकित हो गए। एक स्थान पर सर्प और नेवला धूप में बैठे थे और दोनों ही एक दूसरे की उपस्थिति से निडर थे। थोड़ी दूरी पर हिरणों का एक दल आनंद से हरी दूब घास को चर रहा था और उनके बीच एक श्वेत तेंदुआ भी आराम से लेटा हुआ था। हिरणों में भय का और तेंदुए में आक्रमण की इच्छा का अभाव देखकर तथा एक दूसरे के प्रगाढ़ शत्रु सर्प और नेवले को एक साथ देखकर सम्राट विश्वरथ हैरान रह गए। कुछ ही क्षणों में भगवा वस्त्रधारी दो लड़के सम्राट के समीप पहुंचे। अभिवादन कर उन्होंने प्रार्थना की, 'हे राजन आप महर्षि वशिष्ठ के आश्रम की सीमा में प्रवेश कर रहे हैं। इस पवित्र वन में अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित होना निषेध है। अतः आपसे विनम्र निवेदन है कि आप आश्रम में अपने अस्त्रों के बिना ही प्रवेश करें।'

इन बालकों के चहरे से एक अद्भुत प्रकाश की अनुभूति हो रही थी। सम्राट स्वतः ही उन बालकों के निर्देश मानने को विवश हो गए। अस्त्र शस्त्र एक सेवक को दिए और उन बालकों के साथ आश्रम की ओर मुड़े। बालकों को विनम्र भाव से अपना परिचय कराया तथा महर्षि वशिष्ठ से मिलने की इच्छा प्रदर्शित की। दोनों बालक ऋषिवर को सन्देश देने के लिए तीव्र गति से आश्रम की ओर दौड़े।

शीघ्र ही उन बालकों के साथ एक बलिष्ठ काया वाला युवक उपस्थित हुआ। उसने सम्राट विश्वरथ का अभिवादन कर अपना परिचय दिया और आश्रम में आथित्य स्वीकार करने का निमंत्रण दिया। यह ब्रह्मर्षि वशिष्ठ एवं माता अरुंधती के ज्येष्ठ पुत्र शक्त्रि थे। ऋषिपुत्र शक्त्रि के साथ तब सम्राट विश्वरथ ने महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में प्रवेश किया।

उस समय महर्षि वशिष्ठ ईश्वर भक्ति में लीन होकर यज्ञ कर रहे थे। सम्राट विश्वरथ उन्हें प्रणाम कर वहीं बैठ गए। यज्ञ क्रिया से निवृत होकर महर्षि वशिष्ठ ने सम्राट विश्वरथ का हृदय से आदर सत्कार किया और उनसे कुछ दिन आश्रम में ही रह कर उनकी सेना समेत आतिथ्य ग्रहण करने का अनुरोध किया। इस पर सम्राट विश्वरथ विचार करने लगे कि उनकी विशाल सेना साथ में है। सेना सहित मेरा आतिथ्य करने

में महर्षि वशिष्ठ जी को अत्यंत कष्ट होगा, अतः सम्राट विश्वरथ ने नम्रता पूर्वक प्रस्थान की अनुमति माँगी। किन्तु महर्षि वशिष्ठ जी के अत्यधिक अनुरोध पर थोड़े दिनों के लिये उन्होंने उनका आतिथ्य स्वीकार कर लिया। महर्षि वशिष्ठ जी ने गौ माता कामधेनु का आह्वान किया। माँ की अनुकम्पा से तुरंत सम्राट विश्वरथ तथा उनकी सेना के लिये छः प्रकार के व्यंजन तैयार हुए एवं साथ ही समस्त प्रकार के सुख, सुविधा की व्यवस्था हुई। महर्षि वशिष्ठ जी के आतिथ्य से सम्राट विश्वरथ और उनके साथ आई समस्त सेना अत्यंत प्रसन्न हुईं।

गौ माता कामधेनु का चमत्कार देखकर सम्राट विश्वरथ विस्मित हो गए। उन्होंने गौ माता को प्राप्त करने के विचार से महर्षि वशिष्ठ जी से कहा, "मुनिवर, कामधेनु जैसी गौ वनवासियों के पास नहीं, सम्राटों के पास शोभा देती हैं, अतः आप इसे मुझे दे दीजिये। इसके बदले में मैं आपको सहस्रों स्वर्ण मुद्रायें दे सकता हूँ।"

इस पर महर्षि वशिष्ठ जी बोले, "राजन, यह गौ मेरा जीवन है, मेरी माँ है। अपनी माँ को मैं कैसे बेच सकता हूँ?"

महर्षि वशिष्ठ के उत्तर से सम्राट विश्वरथ संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कहा, ‘यह गाय चूँकि मेरे राज्य में रहती है और साम्राज्य की हर वस्तु पर सम्राट का अधिकार होता है, अतः आपकी विनती का कोई महत्त्व नहीं है। मैं यह घोषणा करता हूँ कि यह दिव्य गाय अब राजा की संपत्ति है और मैं अपने सैनिकों को इसे कान्यकुब्ज ले चलने का आदेश देता हूँ।’

अपने सम्राट का आदेश सुन उनके सैनिक गौ माँ को पकड़ने का प्रयास करने लगे। गौ माँ कामधेनु ने किसी प्रकार उन सैनिकों से अपना बन्धन छुड़ा लिया और महर्षि वशिष्ठ के पास आकर विलाप करने लगीं।

महर्षि वशिष्ठ बोले, "हे गौ माँ, सम्राट विश्वरथ मेरे अतिथि हैं। इन्हें मैं श्राप भी नहीं दे सकता और इनकी विशाल सेना से विजय भी प्राप्त नहीं कर सकता। मैं स्वयं को विवश अनुभव कर रहा हूँ।"

उनके इन वचनों को सुन कर गौ माँ कामधेनु ने कहा, "हे ब्रह्मर्षि, एक ब्राह्मण के बल के सामने क्षत्रिय का बल कभी श्रेष्ठ नहीं हो सकता, आप मुझे आज्ञा दीजिये। मैं एक क्षण में इस क्षत्रिय राजा को उसकी विशाल सेना सहित नष्ट कर दूँगी।"

कोई उपाय न देख कर महर्षि वशिष्ठ जी ने गौ माँ कामधेनु को सम्राट विश्वरथ से युद्ध की अनुमति दे दी।

अनुमति पाते ही गौ माँ कामधेनु ने योगबल से पह्लव सैनिकों की एक सेना उत्पन्न कर दी। वह सेना सम्राट विश्वरथ की सेना के साथ युद्ध करने लगी। सम्राट विश्वरथ ने अपने पराक्रम से समस्त पह्लव सेना का विनाश कर डाला। अपनी सेना का विनाश होते देखकर गौ माँ कामधेनु ने सहस्रों शक, हूण, बर्वर, यवन और काम्बोज सैनिक उत्पन्न कर दिये। सम्राट विश्वरथ ने उन सैनिकों का भी वध कर डाला। तब गौ माँ कामधेनु ने अत्यंत पराक्रमी मारक शस्त्रास्त्रों से युक्त पराक्रमी योद्धाओं को उत्पन्न किया, जिन्होंने शीघ्र ही शत्रु सेना को गाजर मूली की भाँति काटना आरम्भ कर दिया। अपनी सेना का विनाश होते देख सम्राट विश्वरथ के पुत्र अत्यन्त कुपित हो महर्षि वशिष्ठ जी को मारने दौड़े। महर्षि वशिष्ठ जी ने उनमें से एक पुत्र को छोड़ कर शेष सभी को भस्म कर दिया। अपनी सेना तथा पुत्रों के नष्ट हो जाने से सम्राट विश्वरथ बड़े दुःखी हुए और युद्ध में हार स्वीकार कर अपनी राजधानी लौट आए।

दसराज्ञ युद्ध

माँ कामधेनु गौ द्वारा अपने पुत्रों एवं सेना का विनाश होने के बाद पराजित हो महर्षि वशिष्ठ से प्रतिशोध की भावना हृदय में धारण कर वह अपने राज्य कान्यकुब्ज पहुंचे। महर्षि वशिष्ठ से प्रतिशोध लेने का बस एक ही उपाय था, किसी भी प्रकार दैवीय शक्तियों की प्राप्ति। अपने पुरोहित को बुलाया और आज्ञा दी, 'देवताओं को प्रसन्न करने के लिए एक महान यज्ञ अनुष्ठान की तैयार करो।'

राजपुरोहित ने राज्य भर से तथा नवाधीन राज्यों के ऋषि, मुनियों को यज्ञ में आमंत्रित किया। राजमहल के उद्यान के ठीक बाहर वाली भूमि को रिक्त कर यज्ञ अनुष्ठान के लिए विशाल तैयारी की गई। यज्ञ में दिन रात मंत्रोच्चारण करने वाले एक सौ एक ऋषियों के बैठने हेतु आसन की व्यवस्था की गई थी। आचार्य धनु को यज्ञ प्रमुख नियुक्त किया गया। हविष्य के लिए कर्पूर, ताजे फल, सुपारी, केसर, गेंदे के फूल, आम के पत्ते, नारियल, केले की डाल, घृत, दूध तथा गंगाजल के विशाल भंडार की व्यवस्था की गई थी, ताकि इनमें से किसी सामग्री के अभाव में यज्ञ बाधित न हो जाए।

यज्ञ प्रारम्भ हुआ और ४५ दिन तक चलता रहा। पैंतालीसवें दिन प्रातः जब यज्ञ प्रारम्भ होने वाला था तो सम्राट विश्वरथ को आभास हुआ कि आज उस महान यज्ञ की समाप्ति हो जाएगी और उन्हें दैवीय अस्त्र शस्त्र मिल जाएंगे। दिन का जैसे ही प्रथम प्रहर बीता तो यज्ञ-वेदी का तापमान गिरने लगा। ऐसा लगा मानो यज्ञ की अग्नि आस पास की ऊर्जा को अपने अंदर खींच रही थी। पूरे नगर में मौन व्याप्त था तथा घने बादलों ने सूर्य को ढँक लिया था। यज्ञ का उद्यान जो पक्षियों के कलरव से गूँजता रहता था, सहसा निर्जीव प्रतीत हो रहा था। यज्ञ में उपस्थित सम्राट विश्वरथ एवं अन्य ऋषि समझ चुके थे कि यह किसी विस्मयकारी घटना के संकेत थे। आचार्य ने ज्यों ही उस प्रहर की अंतिम आहुति दी, यज्ञवेदी से एक अग्नि शिखा निकली और आकाश की ओर बढ़ चली। कुछ ही क्षणों में वह अग्नि शिखा शुद्ध ऊर्जा के स्तंभ में परिवर्तित हो गई। वह ऊर्जा स्तंभ ऊँचा उठता चला गया और आकाश तक जा पहुँचा। ऊर्जा स्तंभ से नीले रंग का प्रकाश निकल रहा था और वह स्तंभ विद्युत से ऊर्जान्वित प्रतीत हो रहा था। अग्नि शिखा जैसे जैसे बड़ी होती गई, संपूर्ण स्थान अंधकार में डूब गया। अब वहाँ केवल यज्ञ वेदी में जलते अंगारे और उससे निकल रही श्वेत ज्वाला दिखाई पड़ रही

थी। तब अग्नि स्तंभ से एक विशाल आकृति प्रगट हुई, और बोली, ‘मैं अग्नि हूँ। इंद्र देव तुम्हारी आहुति से प्रसन्न हैं और उन्होंने मुझे तुम्हारी इच्छा पूर्ण करने के लिए भेजा है।’

सम्राट विश्वरथ खड़े हो गए तथा उन्होंने अग्निदेव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया। अग्निदेव फिर बोले, ‘सम्राट विश्वरथ, देवताओं द्वारा दी भेंट को स्वीकार करो।’

सम्राट विश्वरथ को जैसे अपने स्वर पर विश्वास ही नहीं हो रहा था, इसलिए उन्होंने बिना उत्तर दिए आदेशानुसार अपने हाथ बढ़ा दिए। अग्निदेव ने तब उन्हें दिव्यास्त्र समर्पित किए।

अग्नि देव आगे बोले, "‘देव जानते हैं कि तुमने दिव्यास्त्रों की कामना की है, अतः देव तुमसे प्रसन्न होकर उदारतावश अपने अस्त्र तुम्हें दे रहे हैं। सबसे पहले यह वायुवास्त्र है। इससे इतनी तीव्र गति से वायु का प्रवाह होना संभव है जिससे शत्रुओं द्वारा निर्मित अस्त्र कुछ ही क्षणों में ध्वस्त हो जाएंगे। यह दूसरा ऐशिक अस्त्र है। यह संपूर्ण राज्य को शीशे की तरह पिघला सकता है। अब मैं तुम्हें वरुणास्त्र दे रहा हूँ जो तुम्हारे शत्रुओं को मूसलाधार वर्षा में डुबो सकता है। यह मरुतास्त्र है, जो हरे-भरे वनों को एक क्षण में मरुस्थल में बदल सकता है। मैं तुम्हें यमराज का कालचक्र अस्त्र भी दे रहा हूँ। यह समय की गति रोकने में समर्थ है। समय को रोकने से तुम्हारे शत्रु स्थिर हो जाएँगे और तुम उन्हें एक एक कर के आसानी से मार सकते हो। अब कपालम एवं कंकालम नाम के यह दो अस्त्र भी ग्रहण करो। इनसे तुम यक्ष, असुर, उरग, नाग तथा गरुड़ जैसे अलौकिक प्राणियों को भी मार सकते हो। यह मोहन अस्त्र है जो शत्रु को जड़ कर देता है। यह प्रस्वपन अस्त्र है जो शत्रु को सुला देता है। विलापन अस्त्र को भी स्वीकार करो जो शत्रुओं में हृदय विदारक दुख उत्पन्न करता है। अब इस पैशाचास्त्र को लो जो तुम्हारे शत्रु के तन से रक्त खींच लेगा। यह तामस अस्त्र लो जो दहकती हुई धूप में भी अंधकार पैदा कर सकता है। मैं तुम्हें चंद्रदेव का शिशिर अस्त्र देता हूँ जो शत्रु को सर्दी से कँपा देगा। यह सूर्यदेव का अस्त्र तेजप्रभा है जो किसी भी प्राणी को पिघलाकर नष्ट कर सकता है। इन दिव्यास्त्रों के साथ यह रथ भी स्वीकार करो जो बिना अश्वों के अनंत काल तक दौड़ सकता था। और अब मैं तुम्हें सबसे भयंकर अस्त्र दे रहा हूँ जो एक क्षण में हवा में छत्र के समान बादल बना सकता है, समुद्र में बाढ़ ला सकता है, भूमि में विशाल गड्ढा कर सकता है तथा अपने प्रहार से कई योजन दूर तक प्रत्येक

वस्तु का नाश कर सकता है। यह तुम्हारे शत्रुओं के नगर नष्ट करके अनेक वर्षों के लिए उस स्थान को विषाक्त कर सकता है जिससे वहाँ कुछ नहीं उग सकता। यह जीवन के मूल भूत अंगों को परिवर्तित करके पौधों, पशुओं तथा मनुष्यों में अत्यंत कष्टदायक बदलाव ला सकता है। यह भयंकर ब्रह्मशिरास्त्र अब तुम्हारे आदेश का पालन करेगा। याद रहे मनु पुत्र, तुम्हें इन दिव्यास्त्रों का प्रयोग केवल ऐसे शत्रु पर करना चाहिए जिसमें तुमसे टकराने का साहस और क्षमता हो अथवा जो तुम्हारे राज्य पर आक्रमण करे। परंतु यदि तुमने इनका प्रयोग निर्दोष लोगों पर किया तो यह पलटकर तुम्हें ही नष्ट कर देंगे। शक्ति के साथ उत्तरदायित्व भी मिलता है। इस बात को कभी मत भूलना।'

इन्ही सब दिव्यास्त्रों को देकर अग्नि देव यज्ञ की अग्नि कुंड में अंतर्ध्यान हो गए।

इन दिव्यास्त्रों को पा सम्राट विश्वरथ प्रसन्न थे। उन्हें लगा कि वह अब सरलता से महर्षि वशिष्ठ को पाठ सिखा देंगे और अपना प्रतिशोध ले पाएंगे।

'इन दिव्यास्त्रों को उपयोग केवल शत्रु के साथ युद्ध में ही किया जा सकता है', यह अग्निदेव के शब्द उनके कानों में गूँजने लगे। इन दिव्यास्त्रों से वह महर्षि वशिष्ठ को अकेले कोई व्यक्तिगत हानि नहीं पहुंचा सकते। अतः कोई ऐसा रास्ता ढूंढना आवश्यक है ताकि महर्षि वशिष्ठ के साथ युद्ध संभव हो सके।

ऐसा विचार उनके हृदय में आया ही था कि तुरंत इसका समाधान उन्हें मिल गया।

महर्षि वशिष्ठ हस्ति के सूर्यवंशी सम्राट सुदास के सरंक्षक एवं गुरु थे। सम्राट सुदास से सम्राट विश्वरथ की भी व्यक्तिगत शत्रुता थी। जब वह राजकुमार विश्वरथ थे और दस्यु राजकुमारी उग्रा से उन्होंने विवाह किया था तो आर्य सम्राट के सेनापति ने सम्राट सुदास के आदेश पर ही उग्रा की हत्या कर दी थी। अब समय आ गया है कि सम्राट सुदास से भी प्रतिशोध लिया जाय।

सम्राट विश्वरथ ने भारतवर्ष के ऐसे दस राजाओं को एकत्रित किया जो महर्षि वशिष्ठ अथवा उनसे संरक्षित हस्ति सम्राट सुदास से किन्हीं न किन्हीं कारणों से रुष्ट थे, दस्यु सम्राट भेदा, सम्राट नूरी (आधुनिक अफगानिस्तान का भाग), सम्राट अलीन, सम्राट

परुष्णि (आधुनिक रावी नदी घाटी), सम्राट अनु, बेताब घाटी सम्राट एवं महर्षि भृगु के वंशज भृगु, बोलन दर्रा सम्राट भालन, गान्धार सम्राट द्रुह्यु, शाल्व सम्राट मत्स्य, पार्थीआ (आधुनिक ईरान) सम्राट परसु, सरस्वती नदी घाटी सम्राट पुरु एवं स्किथी सम्राट पणि।

सम्राट सुदास एवं उनके संरक्षक महर्षि वशिष्ठ जी के विरुद्ध एक भीषण महायुद्ध की घोषणा कर दी गई। रावी नदी तट के एक स्थान को इस युद्ध के लिए चुना गया।

सम्राट सुदास इस युद्ध की घोषणा से विचलित हो गए। गुप्तचरों ने बताया कि इन दस राज्यों के समूह के पास अतुलित बलशाली ६६,००० पैदल संयुक्त सेना, २०० रथ, २,००० घुड़सवार और ५० हाथियों की सेना है जबकि सम्राट सुदास के पास केवल ६,५०० पैदल सेना थी। सम्राट सुदास के पास गिने चुने युद्ध में प्रशिक्षित घोड़े एवं हाथी थे।

महर्षि वशिष्ठ ने उन्हें सांत्वना दी और ज्ञान दिया, 'सत्यमेव जयते।' महर्षि वशिष्ठ ने बतलाया कि हमारे किसी भी प्रकार के उकसाने के बिना यह युद्ध हम पर थोपा जा रहा है। सम्राट सुदास आप क्षत्रिय हैं, इस से भाग नहीं सकते। आप निश्चिंत इस युद्ध का संचालन मुझे करने दीजिए, विजय अवश्य ही आपकी होगी। महर्षि वशिष्ठ जी को युद्ध संचालन का नेतृत्व दे सम्राट सुदास युद्ध की तैयारी में लग गए।

महर्षि वशिष्ठ जी के सामने दो समस्याएं थी, अगर युद्ध में सम्राट विश्वरथ दैविक अस्त्रों का प्रयोग करते हैं तो उसका उत्तर देना उन्हें भली भांति आता है। महर्षि अगस्त के भ्राता महर्षि वशिष्ठ जी को स्वयं ब्रह्मदेव एवं भगवान् विष्णु ने समस्त प्रकार के दैविक अस्त्रों की काट उन्हें बता रखी थी। उन्हें लगता था कि इसका भान अवश्य ही सम्राट विश्वरथ को है और संभवतः वह दैविक अस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे। अगर उन्होंने पारम्पारिक अस्त्रों से युद्ध किया तो महर्षि वशिष्ठ के लिए यह अनीति होगी कि वह दैविक अस्त्रों का उपयोग करें। ऐसे में सम्राट विश्वरथ द्वारा संरक्षित एवं नेतृत्व प्राप्ति की हुई इन दस राजाओं की इतनी विशाल सेना, लगभग सम्राट सुदास से दस गुनी, का सामना कैसे किया जा सकता है? उन्हें तब महर्षि कुर्तुक का विचार आया। उन्होंने तुरंत अपने एक शिष्य को महर्षि कुर्तुक के आश्रम कुर्तुक लद्दाख को इस युद्ध में आमंत्रण देते हुई भेजा।

महर्षि वशिष्ठ जानते थे कि इन दस राजाओं की सेना के पास पारम्पारिक लकड़ी और पत्थर के बने हथियार हैं। महर्षि कुर्तुक ने लोहे से बने युद्ध हथियार, भाले, तलवार एवं तीरों का अन्वेषण किया था। इन लोहे के बने हथियारों की मार शत्रु सेना पर असहनीय होगी और वह विचलित हो जाएगी।

महर्षि कुर्तुक महर्षि वशिष्ठ जी के एक प्रतिभावान शिष्य थे। उनकी प्रतिभा से प्रभावित महर्षि वशिष्ठ ने उन्हें 'महर्षि' की उपाधि से विभूषित किया था और उनको अपना स्वतंत्र आश्रम लद्दाख में स्थापित करने की अनुमति दी थी। लद्दाख में हिमालय की सुन्दर घाटीओं में उन्होंने अपना आश्रम स्थापित किया जो कुर्तुक के नाम से जाना जाता था।

महर्षि वशिष्ठ का सन्देश सुन महर्षि कुर्तुक ने तुरंत हस्ति प्रस्थान की तैयारी करना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें पता था कि महर्षि वशिष्ठ को इस युद्ध में भाग लेने के लिए उनके द्वारा अन्वेषित लोहे के हथियारों की आवश्यकता होगी, अतः उन्होंने जो भी उस समय लोहे के हथियार, तीर, भाले एवं तलवार आदि उपलब्ध थे, उनके साथ यात्रा की योजना बनाई। पुत्री कुर्तकी को साथ लिया। अत्यंत प्रतिभाशाली, कुशाग्र बुद्धि की कुर्तकी ने अपने पिता के साथ इन अस्त्रों का अन्वेषण किया था और वह इनको प्रयोग में लाने की कला में अत्यंत माहिर थीं।

महर्षि कुर्तुक हस्ति पहुंचे और अपने गुरुदेव महर्षि वशिष्ठ को साष्टांग प्रणाम किया। तब उन्होंने अपनी पुत्री कुर्तकी का परिचय भी महर्षि वशिष्ठ जी से कराया। अपने लोहे से बने हथियार महर्षि वशिष्ठ जी के सम्मुख रख दिए। इन हथियारों की संख्या बहुत कम थी, अतः यह आवश्यक था कि इनकी संख्या में वृद्धि की जाए। महर्षि वशिष्ठ जी के आदेश पर तुरंत पूरे राज्य के लोहार उपस्थित हुए और उन्हें महर्षि कुर्तुक एवं उनकी पुत्री कुर्तकी के निर्देश में हथियार बनाने की आज्ञा दी गई। लोहारों की दिन रात की मेहनत से कुछ ही समय में हथियारों का भण्डार निर्मित हो गया।

निर्धारित समय पर सम्राट सुदास की सेना रावी नदी के तट युद्ध स्थल पर पहुँची और वहां एक स्वच्छ स्थान पर अपना पड़ाव डाला। महर्षि वशिष्ठ ने महर्षि कुर्तुक को सम्राट सुदास की ओर से सेनापति का भार संभालने का अनुरोध किया। महर्षि वशिष्ठ जी की आज्ञा सिर पर धारण कर पिता महर्षि कुर्तुक एवं पुत्री कुर्तकी इस युद्ध की योजना में लग गए और व्यूह रचना प्रारम्भ की।

इधर सम्राट विश्वरथ ने अपनी सेना का नेतृत्व करने के लिए सम्राट अनु का चयन किया। परुष्णि सम्राट अनु इसी रावी नदी क्षेत्र के सम्राट थे और उन्हें युद्ध कला का विशेषज्ञ माना जाता था। रात्रि के द्वितीय पक्ष तक शिविर में सभी सम्राटों के साथ सम्राट विश्वरथ रण नीति पर विचार विमर्श करते रहे। तत्पश्चात, 'अगला दिन बहुत भयंकर होने वाला है, अब तुम सब लोग भी थोड़ा विश्राम कर लो', ऐसा कहकर सम्राट विश्वरथ विश्राम के लिए अपने शिविर में चले गए।

सम्राट विश्वरथ अपने शिविर में अपनी शैया पर लेटे सोने का प्रयास कर रहे थे। निद्रा देवी आने का नाम ही नहीं ले रहीं थीं। पुरानी स्मृतियाँ उनके मस्तिष्क पर बुरी तरह छा रहीं थीं। महर्षि वशिष्ठ से पराजय का अपमान उन्हें रह रह कर क्रोधित और ग्लानि की अनुभूति करा रहा था। कल बस मैं अपने सारे अपमान का प्रतिशोध लूंगा, यह सोच कर एक अत्यंत सुखद अनुभूति हुई। मेरे पास ६६,००० सशत्र सेना बल है जबकि सम्राट सुदास के बाद केवल ६,५००। मुख पर प्रसन्नता छा गई। कल गाजर मूली की तरह मैं उनकी सेना को कुचल दूंगा। साथ में सम्राट सुदास को भी वीरगति प्रदान करूंगा। लेकिन महर्षि वशिष्ठ को वीरगति? नहीं, नहीं। मेरा उद्देश्य उन्हें वीरगति देना नहीं, बल्कि उनको बंदी बना कर अपने अपमान का बदला लेना है और उनसे कामधेनु गौ को लेना है। मैंने सेनापति सम्राट अनु एवं सभी अपनी सेना में सम्मिलित सम्राटों को आदेश दे ही दिया है कि वह महर्षि वशिष्ठ को किसी भी प्रकार की शारीरिक हानि न पहुंचाएं, बल्कि बंदी बना कर मेरे सम्मुख उपस्थित करें। तभी नींद का एक झोंका आ गया। देखा, ब्रह्मदेव उनके सामने खड़े हैं। कुछ क्रोधित मुद्रा में लग रहे हैं।

'हे विश्वरथ कल के युद्ध में किसी प्रकार भी दैविक अस्त्रों का उपयोग न करना। अगर तुमने ऐसा किया तो वशिष्ठ इसका भयंकर प्रत्युत्तर देंगे जो पूरी सृष्टि के लिए विनाशकारी होगा। ऐसा हुआ तो मैं तुम्हें भयंकर श्राप दूंगा,' ब्रह्मदेव के यह कठोर शब्द सुन हड़बड़ा कर उठ गए सम्राट विश्वरथ।

इधर रात्रि के पहले पहर में महर्षि वशिष्ठ के शिविर में महर्षि वशिष्ठ, सम्राट सुदास, सेनापति महर्षि कुर्तुक और कुर्तकी रण नीति पर विचार विमर्श कर रहे थे। महर्षि वशिष्ठ बोले, 'सम्राट विश्वरथ के दस सम्राटों की सेना में हमसे दस गुना दल बल है। हम सीधी लड़ाई में उनसे विजय प्राप्त करने में असमर्थ हैं। हमें सोच समझ कर रण-नीति बनानी होगी।'

तभी कुर्तकी के चेहरे पर मुस्कान आ गयी। ‘अवश्य महर्षि। यह युद्ध सत्य पर थोपा गया असत्य का उदाहरण है। हर प्रकार से, साम, दाम, दंड, भेद, और आवश्यक हुआ तो छल भी, कोई भी नीति उपयोग की जाए, विजय अवश्य प्राप्त करनी है।‘ बोलीं कुर्तकी।

'अवश्य पुत्री, लेकिन तुम्हारे मस्तिष्क में क्या चल रहा है?' पिता महर्षि कुर्तुक ने उत्सुकतापूर्वक पूछा। तब कुर्तकी ने अपनी पूरी रण नीति को सम्मुख रखा।

'नियमित युद्ध क्षेत्र से २ मील की दूरी पर रावी नदी के तट पर ही एक विशाल पर्वत श्रृंखला है। इसमें प्रवेश करने के लिए एक संकरे मार्ग से जाना पड़ता है। हमारे सैनिक अपने आधुनिक लोहे के बने हथियारों, तीर, भाले एवं तलवारों आदि से युक्त इस पर्वत श्रृंखला की ऊंचाई पर तैनात होंगे। हमारे दो सौ घुड़सवार शत्रु की सेना के पास पहुँच उन पर आक्रमण करने का अभिनय करेंगे। लेकिन जैसे ही शत्रु की सेना उन पर आक्रमण करेगी वैसे ही रण भूमि छोड़ वह घुड़सवार हमारे सैनिक इस घाटी की पर्वत श्रृंखला की ओर भागेंगे। शत्रु की सेना को समझने का अवसर ही नहीं मिलेगा कि हमारी योजना क्या हो सकती है, अतः वह युद्ध के इस वातावरण में प्रतिशोध के लिए इन हमारे सैनिकों को मारने के लिए उनका पीछा करेंगे। हमारे सैनिक इस संकीर्ण मार्ग से जैसे ही पारित हो जाएंगे और शत्रु सैनिक जैसे ही प्रवेश करने का प्रयास करेंगे, हमारे सैनिक अपने आधुनिक हथियारों से उन पर पर्वत की ऊंची श्रृंखला से हमला बोल देंगे। अवश्य ही शत्रु सेना की इस से बहुत बड़ी क्षति होगी और ऐसी आशा है कि वह निराश होकर अपनी सेना का इस प्रकार संहार देख हताश हो जाएंगे और रण भूमि छोड़ भागने लगेंगे। अगर वह भागने लगे तो फिर उनको एकत्रित करना बहुत कठिन होगा, और संभवतः हमारी विजय होगी।' अपनी योजना कुर्तकी ने स्पष्ट की।

'साधुवाद, साधुवाद' शब्दों के साथ महर्षि वशिष्ठ की करतल ध्वनि के साथ शिविर गूँज उठा।

‘थोड़ा सा छल अवश्य है इस योजना में, लेकिन युद्ध और प्रेम में विजय हेतु सब उचित है। पुत्री, अपनी योजना को कार्यान्वित करो, मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। हाँ, अगर सम्राट विश्वरथ ने किसी भी प्रकार के दैविक अस्त्रों का उपयोग किया तो वह मुझ पर

छोड़ दो। मैं उसका उपयुक्त प्रत्युत्तर देने में समर्थ हूँ, और प्रण करता हूँ कि उस से हमारी सेना को कोई क्षति नहीं होगी,’ बोले महर्षि वशिष्ठ। इस प्रकार हुआ विश्व में प्रथम ‘छापामार युद्ध' योजना का प्रारम्भ।

सब की सहमति और आशीर्वाद प्राप्त करने के तुरंत बाद, रात्रि के दूसरे पहर में ही कुर्तकी ने अपनी सेना की विभिन्न टुकड़ियों के प्रमुखों को बुलाया और पूरी युद्ध योजना से अवगत कराया। रात्रि के चतुर्थ पहर तक सभी सैनिक अपने अपने स्थानों पर हथियारों से युक्त तैनात हो गए।

अगले दिन एक भीषण युद्ध के प्रारम्भ की कल्पना लिए सम्राट विश्वरथ द्वारा संगठित सम्राट अनु के सैन्य नेतृत्व में शत्रु सेना निर्धारित युद्ध स्थल पर आ खड़ी हुई। शत्रु की सेना एक समुद्र के सैलाब की तरह लग रही थी जिस का कोई अंत ही दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था।

योजना के अनुसार सम्राट सुदास के दो सौ घुड़सवार युद्ध की इच्छा लिए सम्राट अनु की सेना के समक्ष आ गए। लेकिन जैसे ही सम्राट अनु ने 'आक्रमण' शब्द से अपनी सेना को प्रोत्साहित करते हुई युद्ध की घोषणा की, यह घुड़सवार युद्ध छोड़ भागने लगे। इस प्रकार इनके युद्ध छोड़ भागने से, इस से पहले कि सैन्य अधिकारी इसके पीछे छिपी किसी योजना का आभास कर सकते, शत्रु सेना में प्रसन्नता की लहर जाग उठी। इसे उन्होंने अपनी विजय का एक संकेत समझा और दौड़ पड़े इन घुड़सवारों को पकड़ उन्हें वीरगति पहुंचाने को। यही तो कुर्तकी चाहतीं थीं।

शत्रु सेना का पर्वत श्रृंखला के संकीर्ण प्रवेश मार्ग पहुंचते ही हुआ विनाशकारी दृश्य। चहुँ ओर से तीर और भालों ने शत्रु सेना को लहूलुहान कर दिया। वह समझ ही नहीं पा रहे थे कि यह वार कहाँ से हो रहा था? और दूसरा विभिन्न प्रकार के हथियारों से उन पर आक्रमण होगा, इसकी तो उन्होंने कल्पना ही नहीं की थी। कोई चार-पांच घंटे का ही युद्ध चला होगा कि शत्रु सेना घबरा कर तितर बितर हो गई और अपनी जान बचाने भागने लगी। सम्राट अनु और अन्य उनके साथी सम्राटों ने बहुत प्रयास किया कि वह अपनी सेना का उत्साह बढ़ा सकें, लेकिन पूर्ण तरह से असमर्थ रहे। जब लगभग पूरी सेना भाग गई तब महर्षि कुर्तुक के कुछ सैनिक तलवार से बाकी सेना पर टूट पड़े।

इस प्रकार महर्षि कुर्तुक की व्यूह रचना एवं उनकी सेना के लोहे से बने हथियारों की मार शत्रु सेना के दिग्गज सहन नहीं कर पाए और कुछ ही घंटों में युद्ध समाप्त हो गया। शत्रु सेना हर प्रकार से परास्त हो गई थी। कुछ घंटों में ही चले इस युद्ध में लगभग १०,००० शत्रु सैनिकों को वीरगति प्राप्त हुई जब कि सम्राट सुदास के केवल ५०० सैनिक ही वीरगति को प्राप्त हुए। इस युद्ध में शत्रु सेना के ६ सम्राट वीरगति को प्राप्त हुए। बाकी बचे ४ सम्राटों को सम्राट सुदास ने अभयदान दे दिया और आदेश दिया कि वहां से न्यूनतम २०० कोस दूर जा कर बसें।

अपनी इस बुरी पराजय से निराश हो तथा इस भय से कि कहीं सम्राट सुदास के सैनिक उन्हें बंदी न बना लें, सम्राट विश्वरथ रण क्षेत्र से पलायन कर गए और भूमिगत हो गए।

इस युद्ध का उल्लेख ऋग्वेद के सातवें मंडल में ७:१८, ७:३३ और ७:८३ में मिलता है।

महर्षि वशिष्ठ से एकल युद्ध

दसराज्ञ युद्ध में पराजय के पश्चात सम्राट विश्वरथ विचार करने लगे कि मैं अग्निदेव के द्वारा दिए दिव्यास्त्रों को उपयोग में लाने में असमर्थ हूँ, अतः मुझे महर्षि वशिष्ठ से बदला लेने के लिए एकल युद्ध के लिए गहन सिद्धियां प्राप्त करनी होंगी। अपने पुत्र को राज सिंहासन सौंप कर वह तपस्या करने के लिये हिमालय की कन्दराओं में चले गये। कठोर तपस्या करके सम्राट विश्वरथ ने ब्रह्मदेव को प्रसन्न कर लिया और उनसे दिव्य शक्तियों के साथ सम्पूर्ण धनुर्विद्या ज्ञान का वरदान प्राप्त कर लिया।

इस प्रकार सम्पूर्ण धनुर्विद्या ज्ञान प्राप्त कर सम्राट विश्वरथ प्रतिशोध की भावना से अकेले ही महर्षि वशिष्ठ जी के आश्रम में पहुँचे। उन्हें ललकार कर सम्राट विश्वरथ ने अग्नि बाण चला दिया। अग्नि बाण से समस्त आश्रम में आग लग गई। आश्रमवासी भयभीत होकर इधर उधर भागने लगे। महर्षि वशिष्ठ ने भी अपना धनुष संभाल लिया और बोले, "सम्राट विश्वरथ, मैं आपके सामने खड़ा हूँ, आप मुझ पर वार करें। आज मैं आपके अभिमान को चूर कर आप को बता दूँगा कि क्षात्रबल से ब्रह्मबल श्रेष्ठ है।"

क्रुद्ध होकर सम्राट विश्वरथ ने 'आग्नेयास्त्र', 'वरुणास्त्र', 'रुद्रास्त्र', 'ऐन्द्रास्त्र' तथा 'पाशुपतास्त्र', सभी दिव्य अस्त्र एक साथ छोड़ दिये जिन्हें महर्षि वशिष्ठ ने अपने मारक अस्त्रों से मार्ग में ही नष्ट कर दिया। इस पर सम्राट विश्वरथ ने और भी अधिक क्रोधित होकर 'मानव', 'मोहन', 'गान्धर्व', 'जूंभण', 'दारण', 'वज्र', 'ब्रह्मपाश', 'कालपाश', 'वरुणपाश', 'पिनाक', 'दण्ड', 'पैशाच', 'क्रौंच', 'धर्मचक्र', 'कालचक्र', 'विष्णुचक्र', 'वायव्य', 'मंथन', 'कंकाल', 'मूसल', 'विद्याधर', 'कालास्त्र' आदि सभी अस्त्रों का प्रयोग कर डाला। महर्षि वशिष्ठ ने उन सब को नष्ट करके ब्रह्मास्त्र छोड़ने के लिये जब अपना धनुष उठाया ही था कि सभी देव, नर-नारी, किन्नर आदि भयभीत हो गये। महर्षि वशिष्ठ उस समय अत्यन्त क्रुद्ध थे, अतः उन्होंने ब्रह्मास्त्र छोड़ ही दिया। ब्रह्मास्त्र की भयंकर ज्योति और गगन भेदी नाद से सारा संसार पीड़ा से तड़पने लगा। सब ऋषि, देव आदि उनसे प्रार्थना करने लगे कि आपने सम्राट विश्वरथ को परास्त कर दिया है, अब ब्रह्मास्त्र से उत्पन्न हुई ज्वाला को शान्त करें। इस प्रार्थना से द्रवित होकर उन्होंने ब्रह्मास्त्र को वापस बुलाया और मन्त्रों से उसे शान्त किया।

पराजित होकर सम्राट विश्वरथ मणिहीन सर्प की भाँति पृथ्वी पर बैठ गये और सोचने लगे कि निःसंदेह अभी भी महर्षि वशिष्ठ का ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है।

गहन तप के लिए प्रस्थान

सम्राट विश्वरथ तब महर्षि जमदग्नि के आश्रम में गए। महर्षि जमदग्नि उनके बचपन के मित्र ही नहीं, भाई से भी बढकर थे जिनके साथ उन्होंने बहुत समय बिताया था। सम्राट विश्वरथ ने सुन रखा था कि स्वयं भगवान् विष्णु ने उनके पुत्र परशुराम के रूप में उनके गृह में अवतार लिया है। अवश्य ही वह मुझे महर्षि वशिष्ठ पर विजय प्राप्त करने की कोई युक्ति बताएँगे, ऐसा विचारते हुए उन्होंने महर्षि जमदग्नि के आश्रम में कदम रक्खा।

महर्षि जमदग्नि ने हृदय से लगाकर सम्राट विश्वरथ का स्वागत किया। सम्राट की यह दशा देख उन्हें अत्यंत दुःख हुआ। तब सम्राट विश्वरथ ने जिस प्रकार उन्होंने महर्षि वशिष्ठ पर आक्रमण किया और पराजय मिली, सभी वृतांत बतलाया।

गंभीरता से महर्षि जमदग्नि ने सम्राट विश्वरथ की व्यथा सुनी और बोले, 'हे राजन, महर्षि वशिष्ठ जैसे आध्यात्मिक रूप से उन्नत व्यक्ति से युद्ध करना उचित नहीं है। मैं तुम्हारा दुःख समझ सकता हूँ क्योंकि तुम मेरे लिए भाई से भी बढ़कर हो, किंतु तुम्हारी भावना तुम्हारे सुविचारों पर हावी हो गया है और तुम सही निर्णय नहीं ले पा रहे हो।'

सम्राट विश्वरथ और उदास हो गए। वह चुपचाप बैठे महर्षि जमदग्नि की बातें सुनते रहे।

महर्षि जमदग्नि ने आगे कहना प्रारम्भ किया, 'ब्रह्मर्षि वशिष्ठ के पास ये शक्तियाँ जन्म से नहीं हैं। यह सब उन्होंने कठोर तपस्या से प्राप्त की हैं। उन्होंने युगों तक परिश्रम किया है तथा अपनी दूर संवेदी क्षमता को इतना प्रखर बना लिया है कि वह आवश्यकता पड़ने पर सीधे इंद्र से संपर्क करके सहायता माँग सकते हैं। स्मरण रहे कि इंद्र को स्वर्ग का राज्य एवं देवपति की पदवी कोई अदिति के पुत्र होने के कारण नहीं मिली, अपितु उन्होंने वृत्रासुर को मारकर तथा संसार को जीवनदायी जल उपलब्ध करवाने के बाद अपनी योग्यता सिद्ध की, तब यह स्थान पाया। क्षत्रिय होने के नाते यह तुम्हारा उत्तरदायित्व और कर्तव्य दोनों हैं कि तुम शेष तीनों वर्णों (ब्राह्मण, वैश्य एवं शूद्र) की रक्षा करो। ध्यान रहे मेरे भाई कि एक राजा के लिए अपनी

व्यक्तिगत आकांक्षाएँ का कोई स्थान नहीं होता। अहंकार को त्याग दो तथा जीवन में आने वाले अन्य अवसरों पर ध्यान केंद्रित करो।'

सम्राट विश्वरथ अब अधिक सहन नहीं कर पाए और आवेश में बोले, 'महर्षि, मुझे जो करने को कहा जाए, मैं हमेशा वही क्यों करता रहूँ? मैं स्वयं अपना मार्ग बनाकर अपने भाग्य का निर्माण क्यों नहीं कर सकता? मैं इसी क्षण अपने समस्त उत्तरदायित्वों का त्याग करता हूँ। मेरे जीवन का बस अब यही एक उद्देश्य है, महर्षि वशिष्ठ से अपनी पराजय का बदला लेना। अगर तप से ही वह शक्तियां मिल सकती हैं तो ठीक है, मैं तप करूंगा। अब मैं तपस्या करके ब्राह्मण की पदवी और ब्रह्मत्व तेज प्राप्त करूँगा।'

ऐसा कहकर सम्राट विश्वरथ तप हेतु एक एकांत स्थान की तलाश में निकल पड़े। कुछ सप्ताह की यात्रा के बाद उन्हें अपनी पसंद का एक स्थान मिल गया। यह स्थान वटपत्रक नामक नगर से थोड़ी दूरी माही नदी के समीप समुद्र से थोड़ी दूरी पर स्थित एक घना उपवन था। उन्होंने वन के बीच के स्थान को स्वच्छ किया और अपने लिए एक छोटी कुटिया बना ली। यह कुटिया काष्ठ की दीवारों एवं फूस की छत से निर्मित साधारण सा ढाँचा था, किंतु उनके रहने के लिए पर्याप्त था। अपने गुरुदेव ऋषि दत्तात्रेय के आश्रम में गुरुकुल वास के अनुभवों ने उनकी मौसम की अनिश्चितताओं से निपटने में अत्यंत मदद की। वह उस निर्जन स्थान पर उपलब्ध सीमित साधनों का उपयोग करने में सक्षम हो गए। अपने लिए मूल भूत सामग्री जुटा लेने के बाद उन्होंने ध्यान लगाने पर गंभीरता से कार्य आरंभ कर दिया। उन्हें पता था कि यह कार्य, दिव्यास्त्रों के लिए किए गए यज्ञ की तुलना में अधिक लंबा और कठिन होगा, किंतु उन्हें यह भी पता था कि उनके पास अपनी लक्ष्य-प्राप्ति का, महर्षि वशिष्ठ को परास्त करने का, यही एकमात्र साधन था।

अप्सरा मेनका प्रति आकर्षण

सम्राट विश्वरथ तपस्या में लीन हो गए। प्रतिदिन सम्राट विश्वरथ की तपस्या की तीव्रता बढ़ती जा रही थी। उसकी प्रतिध्वनि का स्वर्गलोक तक अनुभव होने लगा। देवपति इन्द्र को सम्राट विश्वरथ की साधना पर संदेह होने लगा। उन्हें लगा कि विश्वरथ स्वर्ग का शासन चाह रहें हैं। देवराज इन्द्र ने इस विषय पर अन्य देवताओं से भी चर्चा की। उन्हें विश्वरथ के संकल्प और दृढ़ विश्वास का पूर्ण अनुमान था।

इंद्र के मन में प्रबल इच्छा उठी कि वह अपने वज्र के प्रहार से विश्वरथ को दंडित करके इस कहानी को यहीं समाप्त कर दें। परंतु तभी उन्हें आभास हुआ कि ऐसा करने से उनकी छवि को क्षति पहुंचेगी। प्रतिद्वंद्वियों को उनके विरुद्ध महाभियोग चलाने का अवसर मिल जाएगा। तभी उन्हें एक युक्ति सूझ गई। उन्होंने स्वर्ग की सबसे सुंदर अप्सरा मेनका को बुलाया जिसका सौंदर्य विवरण से परे था। इन्द्र के कक्ष में प्रवेश करने पर देवपति इन्द्र ने मेनका का अभिनंदन किया और बोले, 'हे प्रिये, मैंने तुम्हें एक अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य के लिए आमंत्रित किया है। मैं ऐसी आशा करता हूँ कि तुम अवश्य मेरा यह कार्य करोगी।'

'यदि यह शरीर मेरे प्रभु के काम नहीं आ सकता तो यह मेरे किस काम का है? कौन है प्रभु, जिसे आप मेरे आकर्षण के योग्य समझते हैं? मेरे मोह से आज तक कोई भी नहीं बच सका और मुझे विश्वास है कि आगे भी ऐसा कभी नहीं होगा,' मुस्कुराते हुए मेनका बोलीं।

इन्द्र गंभीर स्वर में फिर बोले, 'हे मेनका, मैं जिसे लेकर चिंतित हूँ वह न तो कोई देव है, न यक्ष, न असुर। वह एक मनुष्य है।'

मेनका अब थोड़ा क्रोधित हो गईं और कटाक्ष करते हुए बोलीं, 'क्या आपका आदेश एक साधारण मनुष्य का आलिंगन करने का है? मैं, देवलोक की सबसे मनमोहक अप्सरा एक तुच्छ मानव के साथ आलिंगन करूँ? प्रभु, यह आपकी कैसी कल्पना है?'

'वह कोई साधारण पुरुष नहीं मेनका, स्वर्ग का राज्य जीतने की क्षमता रखता है,' इन्द्र बोले।

मेनका का क्रोध अब शांत हो गय, और एक गहरी श्वास के बाद उन्होंने पूछा, ‘क्या मैं जान सकती हूँ कि वह मनुष्य कौन है जिसके लिए आप मेरा उपयोग करना चाहते हैं?’

इन्द्र विनती भाव में बोले, ‘वह सम्राट विश्वरथ हैं। उन्होंने महायज्ञ कर देवताओं को प्रसन्न किया था और हम सभी ने उन्हें दिव्यास्त्र प्रदान किए थे। लेकिन लगता है कि उनकी अभिलाषा चरम सीमा पर पहुँच गई है और अब वह स्वर्ग का राज्य प्राप्ति के लिए घनघोर तप कर रहे हैं। उनके इस तप को भंग करना अत्यंत आवश्यक है। तुम्हारा सौंदर्य इसके लिए पर्याप्त होगा। तुम्हारे अन्य प्रश्नों के उत्तर बाद में कार्य संपन्न होने के बाद सहर्ष दे दूँगा। अभी मैं जैसा कहता हूँ वैसा करो।’

इन्द्र जानते थे कि वह मेनका से अपनी योजना को पूर्ण करवा सकते हैं तथा साथ ही उसे गुप्त भी रख सकते हैं। उनके पास विश्वरथ को शीघ्र तथा निश्चित ढंग से असंतुलित करने का यही एकमात्र दाँव था।

मेनका ने चुनौती स्वीकार कर ली। इंद्र ने कामदेव का स्मरण किया और उन्हें भी मेनका की सहायता करने की विनती की। इंद्र का आदेश पा दोनों हँसते हुए पृथ्वीलोक पहुँच गए और एक षड्यंत्र की रचना करने लगे। सम्राट विश्वरथ के आश्रम पहुँच कामदेव ने आश्रम के आस पास के वन्य क्षेत्र को फूलों के उद्यान में बदलना प्रारम्भ किया। काँटेदार झाड़ियों के स्थान पर सुगंधित कुमुदिनी के पुष्प उगने लगे तथा वृक्षों को गुलाब एवं कचनार की लताओं ने आवृत्त कर लिया जिनके पीले व गुलाबी फूल हवा में बिखरने लगे। सूर्य आकाश में रूई के गट्ठों की भाँति तैरते श्वेत मुलायम बादलों के पीछे छिप गया। कोयल वसंत के गीत गाने लगी तथा सरोवर में कमल पुष्पों की कलियाँ खिलने लगीं।

विश्वरथ सदैव की भांति ब्रह्म मुहूर्त में उठकर दिनचर्या से निपट नदी में स्नान कर वहीं तट पर समाधि में लीन हो गए। उनका ध्यान इस ओर गया ही नहीं। लेकिन संध्या समय जब समाधि टूटी तो अपने आस पास सुगन्धित उद्यान देख आश्चर्य चकित हो

गए। कुटिया लौटते समय मार्ग में उनका ध्यान इस परिवर्तन पर गया। उन्हें पैरों के नीचे की मिट्टी भी मुलायम लग रही थी। जंगली झाड़ियों के स्थान पर पतली डाल वाले लचकदार वृक्ष खड़े थे। तट के समीप नारियल के वृक्ष फलों से लदे हुए थे तथा हवा में चंपा और चमेली की सुगंध फैली थी। वन से मधुर स्वर की ध्वनि आ रही थी। तभी उन्होंने देखा कि तट के समीप थोड़ी दूर पर कोई और भी साधना में लीन था। वह धुँधली आकृति अस्त होते सूर्य की ओर पीठ करके मुड़ी तो विश्वरथ की श्वास मानो उनके कंठ में अटक गई। इतनी सुंदर स्त्री इससे पूर्व उन्होंने कभी नहीं देखी थी। संध्या के मंद प्रकाश में उसका उत्कृष्ट सौंदर्य चमक रहा था। उसकी लंबी चोटी धरा का स्पर्श कर रही थी। संभवतः अभी उसने नदी में स्नान किया था। उसकी जल से भीगी साड़ी उसकी कामुकता को बढ़ा रही थी। उसने विश्वरथ को देखा और आदर सहित अभिवादन किया।

उसके सौंदर्य ने विश्वरथ के हृदय में उत्तेजना जगा दी। बड़े ही विनम्र भाव से वह उस स्त्री से बोले, 'हे देवी, मैंने यहाँ आपको पहले कभी नहीं देखा। आप अपना परिचय दें। मैं विश्वरथ, कान्यकुब्ज का सम्राट हूँ तथा वानप्रस्थ ग्रहण कर ईश्वर की स्तुति में लगा हूँ।'

मेनका ने अब विश्वरथ की ओर देखा। वे जटाधारी थे, उनकी दाढ़ी बढ़ी हुई थी एवं उन्होंने ऋषि समान अंग वस्त्र धारण किए हुए थे। उनके अधिकारपूर्ण स्वर से उनका व्यक्तित्व और भी निखर रहा था। इस व्यक्तित्व पर मेनका भी आकर्षित हो गई। इस आकर्षण के आगे उसे स्वर्गलोक का जीवन नीरस एवं आनंदविहीन लगने लगा। वह अत्यंत मधुर स्वर में तब बोली, 'हे सम्राट, मैं अपने समूह के साथ तीर्थ यात्रा पर निकली थी। लगता है कि यहां वृक्ष की शीतल छाया में मुझे नींद आ गई। मैं जब सोकर उठी तो मैंने अपने समूह के लोगों को नहीं पाया। लगता है कि वह लोग मुझे यहाँ छोड़कर चले गए।'

विश्वरथ को इस पर आश्चर्य तो अवश्य हुआ लेकिन इस सन्दर्भ में कुछ नहीं बोले। उनके मन में अचानक मेनका के प्रति सहानुभूति पैदा हो गई। अपने को संयमित कर बोले, 'हे देवी, मेरी कुटिया निकट ही है। जब तक तुम्हारे समूह के लोग तुम्हें ढूंढने आएं तब तक तुम मेरी कुटिया में निवास कर सकती हो।'

मेनका ने विश्वरथ के आग्रह को स्वीकार किया और उनके साथ उनकी कुटिया में चल दी। इस स्त्री की साड़ी भीगी हुई थी और विश्वरथ को ऐसा प्रतीत हुआ कि वह ठण्ड से सिकुड़ रही है। कुटिया पहुँच उन्होंने यज्ञ के लिए एकत्रित लकड़ीओं से अग्नि प्रज्वलित की। अग्नि की उष्णा से स्त्री को कुछ आराम अवश्य मिला परन्तु उसके भीगे वस्त्र उसको कम्पन पैदा कर रहे थे। अतः विश्वरथ ने अपने ऋषि वस्त्र का एक भाग उसे देकर आग्रह किया कि वह अपने वस्त्र बदल ले। उसने तुरंत विश्वरथ की आज्ञा का पालन किया। ऋषि वस्त्र इतने छोटे थे कि उसके शरीर का प्रत्येक अंग उसे और कामुक बना रहा था।

विश्वरथ ने एक समय से किसी स्त्री का अवलोकन नहीं किया था। इस दृश्य ने उनको कामुक बना दिया। इस समय वह अपनी महर्षि वशिष्ठ से शत्रुता एवं विशेष दिव्यास्त्रों को प्राप्त करने हेतु तप की बातों को भूल गए। तुरंत मेनका को अपनी ओर खींच सीने से लगा लिया। दोनों ओर से काम भावना प्रगाढ़ हो गई और दोनों का शरीर एक हो गया।

समय बीतता चला गया। पांच वर्ष हो गए मेनका को विश्वरथ के साथ रहते हुए। न जाने क्यों मेनका का हृदय स्वर्गलोक वापस जाने को करता ही नहीं था। कहीं उसे विश्वरथ से प्रेम तो नहीं हो गया था? मेनका ने गर्भ धारण कर लिया। जब मेनका ने यह विश्वरथ को बताया तो उनकी प्रसन्नता का अंत ही नहीं था। अपने सौ पुत्रों के जन्म पर भी वह कभी इतने प्रसन्न नहीं हुए थे जितना आज मेनका के गर्भ धारण से हुए। अपनी यौगिक शक्तियों से उन्होंने तुरंत जान लिया कि गर्भ में कन्या है।

विश्वरथ को इतना प्रसन्न जान तथा अपने प्रति प्रेम भाव देख अब मेनका का हृदय विवश हो गया कि वह विश्वरथ को सत्य से अवगत कराए। वह कोई परिवार अथवा समाज द्वारा त्यागी हुई नारी नहीं, बल्कि स्वर्ग की एक अप्सरा है जिसे देवराज इंद्र ने उनका तप भंग करने के लिए पृथ्वी पर भेजा है। मेनका को पूर्ण विश्वास हो गया था कि विश्वरथ उसके इस असत्य को क्षमा कर उसे हृदय से स्वीकार कर लेंगे। प्रातः की बेला में जब विश्वरथ उसके बालों से खेलते हुए अपने प्रेम का प्रदर्शन कर रहे थे, तब साहस कर मेनका ने विश्वरथ को सत्य से अवगत कराया।

मेनका की आशा के विपरीत यह सत्य सुन विश्वरथ क्रोधित हो गए। बोले अवश्य कुछ नहीं, केवल आकाश की ओर शून्य में देखते रहे। क्रोध शांत होने पर बोले, 'हमारा मिलन बस यहीं तक था। मुझे तुम्हारे नेत्रों में अब केवल इंद्र और देवताओं का उपहास दिखाई पड़ रहा है जो मेरी मूर्खता पर हंस रहे हैं। मुझे आभास था कि मैं एक आदर्श जीवन जी रहा हूँ परन्तु तुमने मेरे साथ विश्वासघात किया है। मैंने तुम्हारे साथ सच्चा प्रेम किया है, अतः श्राप तो नहीं दूंगा लेकिन तुम यहां से तुरंत चली जाओ और मुझे अपना चेहरा कभी मत दिखाना।'

यह कहकर विश्वरथ वन में न जाने कहाँ चले गए। मेनका इस अचानक आघात से अचंभित हो लड़खड़ाती हुई अर्द्ध मूर्छित अवस्था में विश्वरथ के आश्रम से धीरे धीरे वन में निकल पड़ी। उसे पता ही नहीं चला कि वह कहाँ पहुँच गई। उसे लगने लगा कि शीघ्र ही वह मूर्छित होकर गिर पड़ेगी और हुआ भी ऐसा ही। जब उसकी मूर्छा खुली तो उसने अपना आप को एक अन्य ऋषि के आश्रम में पाया। यह महर्षि कण्व का आश्रम था।

महर्षि कण्व के शिष्य वन में यग्न हेतु लकड़ियां बीनने निकले हुए थे। वन में उन्होंने एक नारी को मूर्छित अवस्था में देखा। वह तुरंत उसे अपने आश्रम ले आए।

महर्षि कण्व की अनुभवी आँखों ने तुरंत जान लिया कि यह कन्या गर्भवती है। कन्या की मूर्छा टूटने पर उन्होंने उससे समस्त विवरण जानने का प्रयास किया, परन्तु मेनका केवल रोए ही जा रही थी। तब महर्षि कण्व ने यौगिक शक्ति से सब जान लिया परन्तु किसी से कुछ नहीं बोले। गुरुमाता को आदेश दिया, 'इसकी भली भांति देखभाल करो।'

समय आने पर कन्या ने एक अति सुन्दर पुत्री को जन्म दिया। कन्या के जन्म समय न जाने कहाँ से अगनित शकुन्त पक्षिओं का आगमन हुआ। उनका चहचहाना एक अत्यंत शुभ सन्देश दे रहा था। महर्षि ने उसका नाम संस्करण संस्कार किया और नाम रखा, 'शकुंतला', अर्थात शकुन्त पक्षिओं द्वारा अभिनंदित।

पुत्री के जन्म के बाद से ही मेनका का मन अब पृथ्वीलोक से उचाट हो गया था। उसे स्वर्गलोक की याद आने लगी और एक दिन वह रात्रि में चुपके से उठी और पुत्री

शकुंतला को गुरुमाता के चरणों में रखकर वहां से स्वर्गलोक चली गई। पुत्री का लालन पालन गुरुमाता द्वारा महर्षि कण्व के आश्रम में होने लगा। युवा होने पर इनका विवाह सूर्यवंशी चक्रवर्ती महाराज दुष्यंत के साथ हुआ। इनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भरत हुए जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।

विश्वरथ को गायत्री मन्त्र ज्ञान और ब्रह्मऋषि उपाधि

मेनका के आश्रम से चले जाने के बाद विश्वरथ कई दिनों तक वन में भटकते रहे। उन्हें रह रह कर मेनका की याद आती रही। उनकी आत्मा उन्हें कचोटने लगी कि मेनका ने अवश्य उनके साथ छल किया पर विश्व में आने वाली नई कन्या का तो कोई दोष नहीं था। संभवतः यह उन्होंने कोई बड़ा अपराध कर दिया। हृदय ग्लानि से भर गया। विचार आया कि तुरंत उन्हें मेनका को ढूँढ़ना चाहिए। तभी 'नारायण नारायण' पुकारती हुई कोई छाया उन्हें दिखाई दी। समीप आने पर पहचाना, यह तो ब्रह्मऋषि नारद हैं। उनके चरणों में गिर गए और हृदय शांति की प्रार्थना करने लगे। ब्रह्मऋषि नारद ने उनको तब बताया कि मेनका सुरक्षित महर्षि कण्व के आश्रम में है। उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, 'हे विश्वरथ, अब अधिक समय न गंवाओ। अपनी साधना पूर्ण करो। तुम्हारा जन्म विश्व उद्धार के किसी विशेष कार्य के लिए हुआ है। अपना कार्य सम्पूर्ण करो।'

ब्रह्मऋषि नारद के शब्दों को हृदय में रख विश्वरथ वापस अपने आश्रम में आ गए और अपना समस्त ध्यान अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु साधना पर लगाना प्रारम्भ कर दिया।

साधना में दिन, माह और फिर अनेक वर्ष बीत गए। विश्वरथ अपने शरीर को स्थित कर समाधि में रम गए। उन्होंने भोजन, जल तथा निद्रा का भी त्याग कर दिया। वह अपने अंदर आत्म-तत्व में इतना लीन हो गए कि उन्हें बाहरी जगत की गतिविधियों का भान नहीं रहा। उनके आश्रम में लताएँ फैलती चली गईं। शास्त्रों में उल्लेख है कि वह वट वृक्ष जिसके नीचे विश्वरथ ध्यान लगाए बैठे थे, उसकी शाखाएँ एक मील तक फैल गईं। धीरे धीरे पूरा क्षेत्र स्तंभ युक्त आश्रय में परिवर्तित हो गया जो विश्वरथ की मौसम के उतार चढ़ाव से रक्षा करने लगा।

विश्वरथ को एक एक कर सिद्धियों प्राप्त होने लगीं। मुख्य पञ्च शक्तियों की उन्हें अनुभूति होने लगी। त्रिकालज्ञात्वम अर्थात भूत, वर्तमान एवं भविष्य का ज्ञान, अद्वंद्वम अर्थात चरम सीमा के तापमान को सहन करने की शक्ति, सामर्थ्य परचित्ताभिज्ञम अर्थात किसी के भी मस्तिष्क को पढ़ लेने की क्षमता, फ्रतिस्तम्भ: अर्थात पंचतत्वों को संशोधित करने की शक्ति, तथा अपराजेय: अर्थात अजेयता शक्ति।

इन सब प्रमुख सिद्धियों की प्राप्ति के पश्चात गौण सिद्धियों भी उन्हें प्राप्त होने लगीं जिससे उन्हें भूख, प्यास और शारीरिक कामना की इच्छाओं पर नियंत्रण प्राप्त हो सके। उन्होंने दिव्य दृष्टि एवं श्रवण संबंधी क्षमताएँ भी विकसित कर लीं ताकि वे बहुत दूरी से देख और सुन सकें। इसके बाद उन्होंने परकाया प्रवेश, इच्छानुसार रूप बदलने की शक्तियाँ, प्राप्त हुईं जिससे वह पशु, पक्षी, वृक्ष, देव, असुर अथवा मानव, किसी भी रूप धारण करने में समर्थ हो गए। एक अन्य दिव्य सिद्धि द्वारा उन्हें किसी भी लोक के निवासी से संपर्क करने की क्षमता मिल गई। अनेक वर्षों तक स्थिर रहने और इन सब सिद्धियों को प्राप्त करने के बाद विश्वरथ अपनी चेतना में लौटे।

इन सब शक्तियों की प्राप्ति पर भी विश्वरथ के हृदय को शान्ति नहीं मिली। वह न जाने किस दिव्य शक्ति से प्रभावित तपस्या करते रहे। उन्हें स्वयं भी अब यह पता नहीं था कि वह क्या चाहते हैं? अब उनकी चाह संभवतः केवल परमात्मा की चाह रह गई थी। तभी उन्हें एक तीव्र प्रकाश का भाव हुआ जिसका स्थान शीघ्र ही एक देवी की आकृति ने ले लिया। उस देवी के पाँच सिर थे जो भिन्न दिशाओं में देख रहे थे। उस देवी के दस हाथों में त्रिदेव के पास रहने वाले सभी अस्त्र थे। देवी शक्ति के दर्शन करते ही विश्वरथ बैठकर नतमस्तक हुए और स्वतः ही उनके मुख से संस्कृत का एक श्लोक निकल पड़ाः

ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं ।।
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

हे तीनों लोकों की स्वामिन, मैं आपके प्रकाशमान रूप का ध्यान करता हूँ। आपका ये रूप मेरी बुद्धि को सदैव सही मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करे।

विश्वरथ ने प्रार्थना समाप्ति के पश्चात देवी के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। देवी ने विश्वरथ के सिर पर हाथ रखा और तभी तीव्र प्रकाश की धारा उनके दिव्य हाथों से निकलकर विश्वरथ के सिर में प्रविष्ट हो गई जिसने उनकी कोशिकाओं को उत्तेजित कर दिया और उनकी जिह्वा से शब्द निकला, 'माँ गायत्री', तुम्हें नमन। हे वेदों की माता, आप ही सृष्टि के रचयिता ब्रह्मा, उसके पालनहार विष्णु तथा विनाशक भगवान शिव की अर्धांगिनी ऊर्जा का रूप हैं। हे माँ, मेरे हृदय को पवित्र कीजिए तथा अपनी शरण में लीजिए।'

माँ गायत्री विश्वरथ के समीप आईं और बोलीं, 'मैंने तुम्हारे लिए इस ब्रह्मांड का बीज मंत्र अनावृत कर दिया है। यह सबसे प्राचीन मंत्र है जो ऊर्जा को पदार्थ में और फिर पदार्थ को वापस ऊर्जा में बदल सकने की क्षमता रखता है। इस मंत्र की सहायता से संपूर्ण मानव जाति ध्यान लगाकर आत्म-बोध के लक्ष्य को प्राप्त कर सकने में सक्षम होगी।' यह कहकर और अपना आशीर्वाद देकर माँ गायत्री अंतर्ध्यान हो गईं।

माँ के अन्तर्ध्यान होते ही ब्रह्मदेव प्रगट हो गए और आशीर्वाद देते हुए बोले, 'हे विश्वरथ, तुमने ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लिया। आज से तुम ब्रह्मऋषि विश्वामित्र के नाम से जग में विख्यात होगे। हे पुत्र तुम मेरे ही वंशज हो। मेरे पुत्र प्रजापति के पुत्र चक्रवर्ती सम्राट कुश थे। उनके पुत्र सम्राट कुशनाभ और तुम्हारे पिता सम्राट गाधि उनके पुत्र थे। महर्षि वशिष्ठ मेरे पुत्र हैं, अतः तुम्हारे पूजनीय अग्रज हैं। अपने ही अग्रजों से शत्रुता शोभा नहीं देती। उनसे क्षमा मांगकर उनसे आशीर्वाद प्राप्त करो। विश्व में शान्ति प्रदान करने के लिए ही गायत्री ने तुम्हें महामंत्र दिया है। यह सन्देश विश्व में फैलाओ।' यह आशीर्वाद देकर तथा विश्वरथ को ‘ब्रह्मऋषि विश्वामित्र’ की उपाधि देकर ब्रह्मदेव अंतर्ध्यान हो गए।

आगे की कथा सर्व विदित है कि किस प्रकार ब्रह्मऋषि विश्वामित्र ने ब्रह्मऋषि वशिष्ठ से मिलकर, उनसे क्षमित होकर, विश्व का मार्ग दर्शन किया। समय आने पर भगवान् श्री राम के गुरुपद को स्वीकार करते हुए राक्षसों का उनसे निर्वाण कराया, माँ अहल्या का उद्धार करवाया, एवं सीता माँ से उनका मिलन कराया।

गायत्री मन्त्र महात्म्य

स्वयं माता गायत्री द्वारा जन कल्याण हेतु महर्षि विश्वामित्र को प्रदानित गायत्री महामंत्र ऋग्वेद का एक महत्वपूर्ण छंद बन गया। इस मंत्र द्वारा सवित देव की उपासना से इहलोक में सांसारिक सुख एवं परलोक में ईश्वर की प्राप्ति होती है, ऐसा महापुरुष और सनातन धर्म ग्रन्थ कहते हैं।

गायत्री मन्त्र एक विशेष छन्द है जो २४ मात्राओं (८+८+८) के योग से बना है। स्वयं संस्कृत व्याकरण के जन्मदाता महर्षि पाणिनि ने व्यक्त किया है कि संस्कृत के छंद व्याकरण को ध्यान में रखते हुए इतनी सुन्दर रचना उन्होंने कहीं नहीं देखी। गायत्री मन्त्र ऋग्वेद के सात प्रसिद्ध छंदों, गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, विराट, त्रिष्टुप् और जगती, में से एक है। जैसा उपरोक्त उल्लेख है, गायत्री छन्द में आठ आठ अक्षरों के तीन चरण हैं। गायत्री मन्त्र में तीन पद हैं (त्रिपदा वै गायत्री)। श्रुति ऐसा कहती है कि जब छंद या वाक के रूप में सृष्टि के प्रतीक की कल्पना की जाने लगी तब इस विश्व को त्रिपदा गायत्री का स्वरूप माना गया। गायत्री के रूप में जीवन की प्रतीकात्मक व्याख्या होने लगी।

सनातन धर्म मान्यता के अनुसार हमारे सम्बन्धों की व्याख्या गायत्री मन्त्र से इस प्रकार की जा सकती है जो हमें इससे जोड़ती है, एक ओर विराट् विश्व और दूसरी ओर मानव जीवन, एक ओर देवतत्व और दूसरी ओर भूततत्त्व, एक ओर मन और दूसरी ओर तत्त्व, एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर कर्म।

इस मन्त्र के देवता सविता हैं। सविता सूर्य की संज्ञा है जो समस्त देवों को प्रेरित करते हैं। सविता देव को ऋग्वेद में मन का देव कहा गया है (देवं मन: - ऋग्वेद, १:१६४:१८)। मन ही प्राण का प्रेरक है। सविता देव मन प्राणों के रूप में सब कर्मों के अधिष्ठाता हैं, यह गायत्री मन्त्र के तीसरे चरण में स्पष्ट है। वेद कहते हैं, 'कर्माणि धिय:', अर्थात जिसे हम घी या बुद्धि तत्त्व कहते हैं वह केवल मन के द्वारा होने वाले विचार या कल्पना नहीं किंतु उन विचारों का कर्मरूप में परिवर्तित होना है। मन की कर्म-क्षम-शक्ति के लिए मन का सशक्त या बलिष्ठ होना आवश्यक है। यही कर्म-क्षम-शक्ति गायत्री मन्त्र द्वारा प्राप्त होती है।

गायत्री मन्त्र के पूर्व में जो तीन व्याहृतियाँ हैं, वे अति सहेतुक हैं। भू पृथ्वीलोक, ऋग्वेद, अग्नि, पार्थिव जगत् और जाग्रत् अवस्था का सूचक है। भुवः अंतरिक्षलोक, यजुर्वेद, वायु देवता, प्राणात्मक जगत् और स्वप्नावस्था का सूचक है। स्वः द्वियुलोक, सामवेद, आदित्यदेवता, मनोमय जगत् और सुषुप्ति अवस्था का सूचक है। अ, उ, म इन तीनों मात्राओं से ॐ का स्वरूप बना है। अ अग्नि, उ वायु और म आदित्य का प्रतीक है। यह विश्व प्रजापति का वाक है। इस वाक का अनंत विस्तार है जिसका स्फुट प्रतीक त्रिपदा गायत्री मन्त्र है। सत्य ही कहा है:

मुक्ता विद्रुम हेम नील धवलच्छायैर्मुख स्त्रीक्षणैर्युक्ता ।
मिन्दु निबद्ध रत्नमुकुटां तत्त्वार्थवर्णात्मिकाम् ।।
गायत्रीं वरदाऽभयङ्कुशकशाः शुभ्रं कपालं गुण ।
शंख चक्रमथारविन्दुयुगलं हस्तैर्वहन्तीं भजे ।।

मोती, मूंगा, सुवर्ण, नीलम्, तथा हीरा इत्यादि रत्नों की तीक्ष्ण आभा से जिनका मुख मण्डल उल्लसित हो रहा है, चंद्रमा रूपी रत्न जिनके मुकुट में संलग्न हैं, जो आत्म तत्व का बोध कराने वाले वर्णों वाली हैं, जो वरद मुद्रा से युक्त अपने दोनों ओर के हाथों में अंकुश,अभय, चाबुक, कपाल, वीणा,शंख,चक्र,कमल धारण किए हुए हैं, ऐसी गायत्री देवी का हम जन कल्याण हेतु ध्यान करते हैं।

भगवान् श्री कृष्ण ने श्रीमद्भागवद्गीता में गायत्री मन्त्र की महिमा दर्शाते हुए स्वयं कहा है :

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ।।१०.३५।।

सामों में मैं बृहत्साम और छन्दों में गायत्री छन्द हूँ। मैं मासों में मार्गशीर्ष और ऋतुओं में वसन्त हूँ।

सनातन धर्म में किसी भी अनुष्ठान के लिए देवताओं को जाग्रत करने के लिए सर्व प्रथम गायत्री मन्त्र उच्चारण करने के लिए कहा गया है ।

यस्य कस्यापि मन्त्रस्य पुरश्चरणमारभेत् ।
व्याहृतित्रयसंयुक्तां गायत्रीं चायुतं जपेत् ।।
नृसिंहार्कवराहाणां तान्त्रिक वैदिकं तथा ।
बिना जप्त्वातु गायत्रीं तत्सर्वं निष्फल भवेत ।।

किसी भी मंत्र की साधना को सफल बनाने के लिए उसे गायत्री मन्त्र से प्रारम्भ करें। चाहे वह उपासना श्री नृसिंह भगवान् की हो अथवा सूर्य देव की अथवा वराह अथवा किसी अन्य देव की, बिना गायत्री मन्त्र को प्रथम उवाच किए ईश्वर मन्त्र साधना निष्फल हो जाती है। इसलिए गायत्री उपासना प्रत्येक साधक के लिए अत्यंत आवश्यक है।

समस्त सनातन धर्म ग्रन्थों में गायत्री मन्त्र की महिमा एक स्वर से कही गई है। अथर्व वेद में गायत्री को आयु, विद्या, सन्तान, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज प्रदान करने वाली कहा गया है। श्रुति कहती है, 'गायत्री मन्त्र के सामान चारों वेदों में कोई मंत्र नहीं है। सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान, तप गायत्री की एक कला के समान भी नहीं है।'

गायत्री मंत्र के २४ अक्षरों में अनेक ज्ञान, विज्ञान छिपे हुए हैं। अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र, सोना आदि बहुमूल्य धातुओं का बनाना, अमूल्य औषधियाँ, रसायनें, दिव्य यन्त्र अनेक ऋद्धि-सिद्धियाँ, शाप, वरदान के प्रयोग, नाना प्रयोजनों के लिए नाना प्रकार के उपचार, परोक्ष विद्या, अन्तर्दृष्टि, प्राण विद्या, वेधक, प्रक्रिया, शूल शाल्य, वाममार्गी तंत्र विद्या, कुण्डलिनी, चक्र, दश, महाविद्या, महामातृका, जीवन, निर्मोक्ष, रूपान्तरण, अक्षात, सेवन, अदृश्य, दर्शन, शब्द परव्यूह, सूक्ष्म संभाषण आदि अनेक लुप्त प्राय महान् विद्याओं के रहस्य बीज और संकेत गायत्री में उपस्थित हैं। इन विद्याओं के कारण एक समय हम जगद्गुरु, चक्रवर्ती शासक और स्वर्ग सम्पदाओं के स्वामी बने हुए थे।

गायत्री साधना द्वारा आत्मा पर जमे हुए मल विक्षेप हो जाते हैं। आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट होता है और अनेक ऋद्धि, सिद्धियाँ परिलक्षित होने लगती हैं। जिस प्रकार दर्पण की सफाई करने पर उसके ऊपर जमीं धूल हट जाती है, उसी प्रकार गायत्री साधना से आत्मा निर्मल एवं प्रकाशवान् होकर ईश्वरीय शक्तियों, गुणों, सामर्थ्यों एवं सिद्धियों से परिपूर्ण बन जाती है।

आत्मा के कल्याण की अनेक साधनायें हैं। सभी का अपना अपना महत्त्व भी है और उनके परिणाम भी अलग अलग हैं। 'स्वाध्याय' से सन्मार्ग की जानकारी होती है। 'सत्संग' से स्वभाव और संस्कार बनते हैं। कथा सुनने से सद्भावनाएँ जाग्रत होती हैं। 'तीर्थयात्रा' से भावांकुर पुष्ट होते हैं। 'कीर्तन' से तन्मयता का अभ्यास होता है। दान-पुण्य से सुख सौभाग्यों की वृद्धि होती है। 'पूजन-अर्चन' से आस्तिकता बढ़ती है। 'तप' का महत्त्व इन सबसे अधिक माना गया है। तप की अग्नि में पड़कर ही आत्मा के मल विक्षेप और पाप ताप जलते हैं। जप के द्वारा ही आत्मा में वह प्रचण्ड बल पैदा होता है जिसके द्वारा सांसारिक तथा आत्मिक जीवन की समस्याएँ हल होती हैं। तप की सामर्थ्य से ही नाना प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ और दिव्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इसलिए तप साधन को सबसे शक्तिशाली माना गया है। तप के बिना आत्मा में अन्य किसी भी साधन से तेज प्रकाश बल एवं पराक्रम उत्पन्न नहीं होता।

गायत्री उपासना प्रत्यक्ष तपश्चर्या है। इससे तुरन्त आत्मबल बढ़ता है। गायत्री साधना एक बहुमूल्य दिव्य मन्त्र एवं संपत्ति दाता है। इस सम्पत्ति को एकत्रित करके साधक उसके बदले में सांसारिक सुख एवं आत्मिक आनन्द प्राप्त कर सकता है। इस महामंत्र की उपासना आरम्भ करते ही साधक को ऐसा प्रतीत होता है कि उसके आन्तरिक क्षेत्र में एक नई हलचल एवं परिवर्तन प्रारम्भ हो गए हैं। सतोगुणी तत्त्वों की अभिवृद्धि होने से दुर्गुण, कुविचार, दुःस्वभाव एवं दुर्भाव घटने आरम्भ हो जाते हैं और संयम, नम्रता, पवित्रता, उत्साह, स्फूर्ति, श्रमशीलता, मधुरता, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, उदारता, प्रेम, सन्तोष, शान्ति, सेवाभाव, आत्मीयता आदि सद्गुणों की मात्रा दिन प्रतिदिन शीघ्रता से बढ़ती जाती है। फलस्वरूप लोग साधक के स्वभाव एवं आचरण से सन्तुष्ट होकर उसे प्रशंसा, कृतज्ञता, श्रद्धा एवं सम्मान के भाव से देखने लगते हैं। सद्गुण स्वयं इतने मधुर होते हैं कि जिस हृदय में इनका निवास होगा वहाँ आत्म सन्तोष की परम शान्तिदायक शीतल निर्झरिणी सदा बहती है। ऐसे लोग सदा स्वर्गीय सुख आस्वादन करते हैं।

गायत्री साधना के साधक के मनःक्षेत्र में असाधारण परिवर्तन हो जाता है। विवेक, दूरदर्शिता, तत्त्वज्ञान और ऋतम्भरा बुद्धि की अभिवृद्धि हो जाने के कारण अनेक अज्ञान-जन्य दुःखों का निवारण हो जाता है। प्रारब्धवश अनिवार्य कर्मफल के कारण कष्टसाध्य परिस्थितियाँ हर एक के जीवन में आती रहती हैं। हानि, शोक, वियोग, आपत्ति, रोग, आक्रमण, विरोध, आघात आदि की विभिन्न परिस्थितियों से जहाँ

साधारण मनोभूमि के लोग मृत्यु तुल्य कष्ट पाते हैं, वहाँ आत्मबल सम्पन्न गायत्री साधक अपने विवेक, ज्ञान, वैराग्य, साहस, आशा, धैर्य, सन्तोष, संयम और ईश्वर विश्वास के आधार पर इन कठिनाइयों को हँसते हँसते आसानी से काट लेते हैं। बुरी अथवा असाधारण परिस्थितियों में भी वह अपने आनन्द का मार्ग ढूँढ़ निकाल लेते हैं और प्रसन्नता एवं निराकुलता का जीवन बिताते हैं।

सनातन ऋषियों ने गहन तपस्या और योग्य साधना करके अणिमा, महिमा आदि चमत्कारी ऋद्धि, सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। उनके शाप और वरदान सफल होते थे। वह अद्भुत एवं चमत्कारी सामर्थ्यों से भरे पूरे थे। इनका वर्णन इतिहास एवं पुराणों में भरा पड़ा है। वह तपस्या और योग साधना गायत्री मन्त्र के आधार पर ही होती थीं, इसका उल्लेख मिलता है। गायत्री महाविद्या से ८४ प्रकार की महान् योग साधनाओं का उद्भव हुआ है।

गायत्री के २४ अक्षरों का गुंथन ऐसा विचित्र एवं रहस्यमय है कि उनके उच्चारण मात्र से जिह्वा, कण्ठ, तालु एवं मूर्धा में अवस्थित नाड़ी तंतुओं का एक अद्भुत क्रम में संचालन होता है। इस संचालन से शरीर के विभिन्न स्थानों में छिपे हुए षट्चक्र भ्रमर, कमल, ग्रन्थि संस्थान एवं शक्ति चक्र झंकृत होने लगते हैं। मुख की नाड़ियों द्वारा गायत्री के शब्दों के उच्चारण का आघात उन चक्रों तक पहुँचता है। जैसे सितार के तारों पर क्रमबद्ध उँगलियों फिराने से एक स्वर लहरी एवं ध्वनि तरंग उत्पन्न होती है वैसी ही गायत्री चौबीस अक्षरों का उच्चारण उन चौबीस चक्रों में झंकारमय गुंजार उत्पन्न करता है जिससे वे स्वयमेव जाग्रत होकर योग शक्तियों से सम्पन्न बनते हैं। इस प्रकार गायत्री के जप से अनायास ही एक महत्त्वपूर्ण योग साधना होने लगती है और उन गुप्त शक्ति केन्द्रों के जागरण से आश्चर्यजनक लाभ मिलने लगता है।

गायत्री भगवान् का नारी रूप है। संसार में सबसे अधिक स्नेहमूर्ति माता होती है। भगवान् की माता के रूप में उपासना करने से प्रत्युत्तर में उनका अपार वात्सल्य प्राप्त होता है। मातृ पूजा से नारी जाति के प्रति पवित्रता, सदाचार एवं आदर के भाव बढ़ते हैं जिनकी मानव जाति को आज अत्यधिक आवश्यकता है।

जैसा उपरोक्त वर्णन है, गायत्री महामंत्र वेदों का एक महत्त्वपूर्ण मंत्र है जिसकी महत्ता ॐ स्वरुप ईश्वर के बराबर मानी जाती है। यह यजुर्वेद के मंत्र 'ॐ भूर्भुवः स्वः' एवं

ऋग्वेद के छंद ३.६२.१० में दर्शित है। गायत्री मन्त्र से निकली तरंगे ब्रह्माण्ड में जाकर बहुत से दिव्य और शक्तिशाली अणुओं और तत्वों को आकर्षित करके जोड़ देती हैं और फिर पुनः अपने उद्गम पर लौट आती है जिससे मानव शरीर दिव्यता और परलौकिक सुख से भर जाता है।

गायत्री महामंत्र, 'ॐ भूर्भुव स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं। भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।।', उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा की अन्तःकरण से प्रार्थना है। उस परमात्मा से हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में लाने की स्तुति है ।

ऐसा वर्णित है कि गायत्री मंत्र के जप से हमें निम्न लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

उत्साह एवं सकारात्मकता विचारों की वृद्धि, तामसिकता से घृणा, परमार्थ में रूचि, घटनाओं का पूर्वाभास होना, जन कल्याण करने की शक्ति, क्रोध शांति एवं ज्ञान वृद्धि इत्यादि।

गायत्री मन्त्र का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार है ।

ॐ : सर्वरक्षक परमात्मा
भूः : प्राणों से प्यारा
भुवः : दुख विनाशक
स्वः : सुखस्वरूप है
तत् : उस
सवितुः : उत्पादक, प्रकाशक, प्रेरक
वरेण्य : वरने योग्य
भुर्गः : शुद्ध विज्ञान स्वरूप का
देवस्य : देव के
धीमहि : हम ध्यान करें
धियो : बुद्धियों को
यः : जो
नः : हमारी

प्रचोदयात : शुभ कार्यों में प्रेरित करें

उस सर्वरक्षक प्राणों से प्रिय, दु:खनाशक, सुखस्वरूप श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अंतरात्मा में धारण करें तथा वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

माँ गायत्री आरती

जयति जय गायत्री माता, जयति जय गायत्री माता ।
सत् मार्ग पर हमें चलाओ, जो है सुखदाता ।।
जयति जय गायत्री माता..

आदि शक्ति तुम अलख निरंजन जगपालक कर्त्री ।
दु:ख शोक, भय, क्लेश कलश दारिद्र दैन्य हत्री ।।
जयति जय गायत्री माता..

ब्रह्म रूपिणी, प्रणात पालिन जगत धातृ अम्बे ।
भव भयहारी, जन-हितकारी, सुखदा जगदम्बे ।।
जयति जय गायत्री माता..

भय हारिणी, भवतारिणी, अनघेअज आनन्द राशि ।
अविकारी, अखहरी, अविचलित, अमले, अविनाशी ।।
जयति जय गायत्री माता..

कामधेनु सतचित आनन्द जय गंगा गीता ।
सविता की शाश्वती, शक्ति तुम सावित्री सीता ।।
जयति जय गायत्री माता..

ऋग, यजु साम, अथर्व प्रणयनी, प्रणव महामहिमे ।
कुण्डलिनी सहस्त्र सुषुमन शोभा गुण गरिमे ।।
जयति जय गायत्री माता..

स्वाहा, स्वधा, शची ब्रह्माणी राधा रुद्राणी ।
जय सतरूपा, वाणी, विद्या, कमला कल्याणी ।।
जयति जय गायत्री माता..

जननी हम हैं दीन-हीन, दुःख-दरिद्र के घेरे ।
यदपि कुटिल, कपटी कपूत तउ बालक हैं तेरे ।।
जयति जय गायत्री माता..

स्नेहसनी करुणामय माता चरण शरण दीजै ।
विलख रहे हम शिशु सुत तेरे दया दृष्टि कीजै ।।
जयति जय गायत्री माता..

काम, क्रोध, मद, लोभ, दम्भ, दुर्भाव द्वेष हरिये ।
शुद्ध बुद्धि निष्पाप हृदय मन को पवित्र करिये ।।
जयति जय गायत्री माता..

जयति जय गायत्री माता, जयति जय गायत्री माता ।
सत् मार्ग पर हमें चलाओ, जो है सुखदाता ।।
जयति जय गायत्री माता..

श्री राम कथा संस्थान उद्देश्य

- श्री राम कथा संस्थान भगवान् स्वामी श्री रामानंद जी महाराज (१४वीं शताब्दी) की शिक्षाओं पर आधारित एक सनातन वैष्णव धार्मिक संस्था है।
- श्री संस्थान का सिद्धांत धर्म, जाति, लिंग एवं नैतिक पृष्ठभूमि के आधार पर भेदभाव रहित है। 'हरि को भजे सो हरि को होई' संस्थान का मूल मन्त्र है।
- श्री संस्थान का मानना है कि शुद्ध हृदय एवं निःस्वार्थ भाव भक्ति ईश्वर को अति प्रिय है। सभी प्रभु-भक्त एक दूसरे के भाई बहन हैं।
- ब्रह्म मनोभाव: भगवान् श्री राम, माता सीता एवं उनके विविध अवतार ही सर्वोच्च ब्रह्म हैं। वह सर्व-व्याप्त एवं विश्व के सरंक्षक हैं।
- आत्मा मनोभाव: आत्मा का अस्तित्व सर्वोच्च ब्रह्म के परमानंद पर निर्भर है। आत्मा को सर्वोच्च ब्रह्म ही निर्देशित एवं प्रबुद्ध करते हैं। श्री राम, माता सीता एवं उनके अवतार ही जीवन का अंतिम उद्देश्य मोक्ष दिलाने में समर्थ हैं।
- माया मनोभाव: माया प्रकृति के तीन गुण - सत, रज और तमस, के प्रभाव से प्राकट्य होती है। माया को सर्वोच्च ब्रह्म ही नियंत्रित करने में समर्थ हैं। सर्वोच्च ब्रह्म पर ध्यान केंद्र करने से माया का विनाश होता है, और जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा मिल मोक्ष की प्राप्ति होती है।
- श्री संस्थान इन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निरंतर सनातन धार्मिक पत्रिकाएं, पुस्तकें, पुस्तिकाएं, काव्य ग्रन्थ आदि की रचनाएं एवं प्रकाशन करता है। साथ ही, समय समय पर श्री राम एवं अन्य धार्मिक कथाओं के संयोजन का भी प्रयास करता रहता है।

श्री राम कथा संस्थान
३५, मायना रिट्रीट, हिलरीज़, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५
Web https://shriramkatha.org
Email: srkperth@outlook.com

लेखकः डॉ यतेंद्र शर्मा

एक हिन्दू सनातन परिवार में जन्मे डॉ यतेंद्र शर्मा की रूचि बचपन से ही सनातन धर्म ग्रंथों का पठन पाठन एवं श्रवण में रही है। संस्कृत की प्रारम्भिक शिक्षा उन्होंने अपने पितामह श्री भगवान् दास जी एवं नरवर संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य श्री सालिग्राम अग्निहोत्री जी से प्राप्त की और पांच वर्ष की आयु में महर्षि पाणिनि रचित संस्कृत व्याकरण कौमुदी को कंठस्थ किया। उन्होंने तकनीकी विश्वविद्यालय ग्राज़ ऑस्ट्रिया से रसायन तकनीकी में पी.अच्.डी की उपाधि विशिष्टता के साथ प्राप्त की। सन १९८९ से डॉ यतेंद्र शर्मा अपने परिवार सहित पर्थ ऑस्ट्रेलिया में निवास कर रहें हैं, तथा पश्चिमी ऑस्ट्रेलिया के खनन उद्योग में कार्य रत हैं।

सन २०१६ में उन्होंने अपने कुछ धार्मिक मित्रों के साथ एक धार्मिक संस्था 'श्री राम कथा संस्थान पर्थ' की स्थापना की। यह संस्था श्री भगवान् स्वामी रामानंद जी महाराज (१४वीं- १५वीं शताब्दी) की शिक्षाओं से प्रभावित है तथा समय समय पर गोस्वामी तुलसी दास जी रचित श्री राम चरित मानस एवं अन्य धार्मिक कथाओं का प्रवचन, सनातन धर्म के महान संतों, ऋषियों, माताओं का चरित्र वर्णन एवं धार्मिक कथाओं के संकलन में अपना योगदान करने का प्रयास करती है।

श्री राम कथा संस्थान पर्थ
३५ मायना रिट्रीट, हिलरीज़, ऑस्ट्रेलिया – ६०२५
Web https://shriramkatha.org
Email: srkperth@outlook.com